# आधुनिक संविधान

के० सी० व्हीयर

अनुवादक: नेमिचन्द्र जैन

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

# आधुनिक संविधान

# आधुनिक संविधान

( लेखक की पुस्तक Modern Constitutions का हिन्दी रूपान्तर )

के० सी० व्हीयर

रूपान्तरकार

नेमिचन्द्र जैन

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

# लेखक के दो शब्द

दक्षिणी अफ्रीका की सुप्रीम कोर्ट के अपीलें सुनने वाले न्यायालय ने २० मार्च १९५२ को एक ऐसा निर्णय सुनाया जिसका प्रभाव इस पुस्तक में वहाँ के संविधान के सम्बन्ध में उल्लिखित वक्तव्यों पर पड़ता है। न्यायालय के विचार में दक्षिणी अफ्रीका के संघ के संसद के लिए संविधान ( पृष्ठ १०६ ) में निर्दिष्ट पद्धतियों और प्रक्रियाओं के अनुरूप व्यवहार करना आवश्यक है। इस सीमा तक वहाँ का संविधान सर्वोपरि है। न्यायालय ने संविधान के अधिकारों के प्रति वही दृष्टिकोण अपनाया है जिसका वर्णन ७१ और ७२ पृष्ठों पर हुआ है।

---

# सूची

# १ : संविधान क्या है ?

राजनीति सम्बन्धी किसी भी साधारण बहस में 'संविधान' शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थों में तो होता ही है। सबसे पहले तो किसी देश की समूची शासन प्रणाली (system of government) के लिए, सरकार की स्थापना और उसके व्यवस्थापन अथवा नियमन करने वाले नियमों के समुच्चय के लिए 'संविधान' शब्द का प्रयोग होता है। ये नियम कुछ तो कानूनी होते हैं, इस अर्थ में कि कानूनी अदालतें उनको स्वीकार करती हैं और उनका उपयोग करती हैं, और कुछ निश्चित रूप से लिखित कानून की सीमा में नहीं आते, कानून से बाहर या कानून से परे होते हैं, जो प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज अथवा लोक-रूढ़ियों के रूप में मौजूद रहते हैं, जिन्हें अदालतें कानून के रूप में तो स्वीकार करती हैं, पर तो भी जिनका प्रभाव शासन प्रणाली के व्यवस्थापन में एकदम कानूनी नियमों की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं होता।

दुनिया के अधिकांश देशों में शासन प्रणाली इसी लिखित कानून और इन्हीं अलिखित रूढ़ियों के मिश्रण पर चलती है और इनके इस समुच्चय को भी 'संविधान' कहना सम्भव है। वास्तव में जब हम अंग्रेजी अथवा ब्रिटिश संविधान का जिक्र करते हैं तो उस शब्द का साधारणतः यही अर्थ होता है यद्यपि अन्य अर्थों में भी उसका उपयोग असम्भव नहीं है। ब्रिटिश संविधान उन तमाम कानूनी और कानून के बाहर वाले नियमों के समुच्चय का ही नाम है जिनके द्वारा ब्रिटेन में

शासन सञ्चालित होता है। कानूनी नियम, विधि समूह में सम्मिलित कर लिये जाते हैं, जैसे उत्तराधिकार कानून (Act of Settlement) जिसके अनुसार राज्यसिंहासन का उत्तराधिकार निर्धारित होता है, विभिन्न जन-प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कानून (Representation of the People Acts) जिनके अनुसार १८३२ के बाद से क्रमशः बालिग मताधिकार की स्थापना हुई है, न्याय व्यवस्था सम्बन्धी कानून, तथा १९११ और १९४९ के पार्लियामेण्ट सम्बन्धी कानून जिन्होंने राजसभा (हाउस आफ लॉर्ड्स) के अधिकारों को सीमित किया है, आदि। ये नियम विशेषाधिकार अथवा वैधानिक अधिकार के अन्तर्गत जारी किये जानेवाले आदेशों तथा नियमपत्रों में भी मिलते हैं, और अदालतों के निर्णयों में भी वे सन्निहित रहते हैं। कानून के बाहरवाले नियम ऐसे रीति-रिवाजों अथवा रूढ़ियों में प्रगट होते हैं जैसे लोकसभा तथा राजसभा से यथानियम स्वीकृत होनेवाले विधेयकों को राजा कभी अस्वीकार नहीं करता, अथवा कि जबतक प्रधान मंत्री को लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहता है तबतक तथा इसीलिए वह अपने पद का अधिकारी रहता है। ये तमाम नियम ब्रिटिश संविधान के अंश हैं।

किन्तु ब्रिटेन के सिवाय दुनिया के लगभग प्रत्येक देश में संविधान शब्द का प्रयोग इससे संकुचित अर्थ में ही होता है। उसका प्रयोग लिखित कानूनों तथा अ-लिखित रूढ़ियों के पूरे समुच्चय के लिए नहीं होता, बल्कि उनमें से चुने हुए कुछ उन नियमों के लिए होता है जो एक अथवा परस्पर सम्बद्ध कई एक दस्तावेजों में संगृहीत होते हैं। यही नहीं, लगभग सभी देशों में इन चुने हुए नियमों में कानूनी नियमों का ही प्रायः समावेश होता है। इस भाँति 'संविधान' दुनिया के अधिकांश देशों में, उन चुने हुए कानूनी नियमों को कहा जाता है जिनके द्वारा देश का शासन चलाया जाता है और जो किसी एक दस्तावेज में संगृहीत होते हैं।

इस अर्थ में संविधान का शायद सबसे प्रसिद्ध उदाहरण संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान का है। किन्तु इस प्रकार के संविधान का उदाहरण ढूँढ़ने के लिए ब्रिटिश राष्ट्रकुल (Commonwealth) के बाहर नजर डालने की जरूरत नहीं है। यद्यपि इस अर्थ में स्वयं ब्रिटेन का अपना कोई संविधान नहीं है, किन्तु राष्ट्रकुल के अन्य तमाम सदस्यों और प्रत्येक उपनिवेश का संविधान इसी प्रकार का है। राष्ट्रकुल में कुल मिलाकर लगभग सत्तर अलग-अलग संविधान हैं और उनमें

से अधिकांश ब्रिटेन में ही बनाये गये थे। यदि उन्हें पूरा-पूरा छाप दिया जाय तो उनसे कई ग्रंथ बन जायेंगे और अगर उनके साथ सारी दुनिया के देशों के संविधान भी जोड़ दिये जायँ तो उनसे हजारों पृष्ठ भर जायेंगे।

स्पष्ट ही 'संविधान' का यह संकुचित अर्थ ही अधिक प्रचलित है, और इस पुस्तक में इस शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार होगा। किन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि इस शब्द के इन दोनों अर्थों में परस्पर सम्बन्ध है जो उनके इतिहास द्वारा समझाया जा सकता है। 'संविधान' का व्यापक अर्थ अधिक प्राचीन है। बोलिंगब्रोक ने अपने **ऑन पार्टीज़** नामक निबन्ध के निम्न उद्धरण में इस शब्द को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया था, "संविधान शब्द का जब भी हम उचित और सही सही रूप में व्यवहार करते हैं, तो उससे हमारा अभिप्राय किन्हीं निश्चित विवेक-सम्मत सिद्धान्तों से प्राप्त कानूनों, संस्थाओं और रीति-रिवाजों के समुच्चय से ही होता है...जिनके अनुसार वह सामान्य प्रणाली बनती है जिसके आधार पर समाज ने शासित होना स्वीकार किया है।" किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से ही लोग इस बात को उचित अथवा आवश्यक मानते आये हैं कि उन सब बुनियादी सिद्धान्तों को किसी एक दस्तावेज में लिख लिया जाय जिनके अनुसार उनका भावी शासन स्थापित हो और चले। आधुनिक यूरोप के इतिहास में १५७९ का नेदरलैण्ड के संयुक्त प्रान्तों के संघ का कानून इसका अच्छा उदाहरण है। किन्तु बुनियादी सिद्धान्तों के ऐसे संग्रह को भी अमरीकी और फ्रान्सीसी राज्यक्रांतियों के पहले तक आमतौर पर 'संविधान' नहीं कहा जाता था। १७८७ में अमरीकियों ने घोषणा की "हम, संयुक्तराष्ट्रों के निवासी......संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लिए यह संविधान घोषित तथा स्थापित करते हैं।" उस समय से शासन-व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्तों को एक दस्तावेज में लिख कर रखने की प्रथा चल पड़ी है और 'संविधान' शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार होने लगा है।

किन्तु इस बात पर जोर देना जरूरी है कि यद्यपि इस पुस्तक में 'संविधान' शब्द इसी संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होगा, तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने अध्ययन को केवल उन चुने हुए कानूनी नियमों तक सीमित रक्खेंगे जो शासन प्रणाली की व्यवस्था के लिए किसी देश के संविधान में लिखे होते हैं। ये चुने हुए नियम भी दूसरी चीजों से अलग रह कर, कट कर व्यवहार में नहीं आते। वे

वास्तव में किसी देश की समूची राज्य व्यवस्था अथवा वैधानिक रचना के अंग होते हैं, लिखित कानूनी तथा अ-लिखित कानूनी तमाम नियमों के समुच्चय के अंग होते हैं। विशेष रूप में उनकी पूर्ति विधान सभाओं द्वारा स्वीकृत कानूनी नियमों द्वारा होती है, जो बहुत से देशों में तो लगभग उतने ही महत्वपूर्ण होते हैं जितने स्वयं संविधान में लिखे हुए नियम। इस भाँति शासन-व्यवस्था के प्रमुख अंगों की, जैसे विधान सभाएँ, कार्यकारिणी परिषद् अथवा मंत्रिमण्डल और सर्वोच्च न्यायालय की, स्थापना संविधान द्वारा होने पर भी इन अंगों की रचना तथा नियुक्ति-पद्धति निश्चित करने का काम प्रायः साधारण कानून द्वारा ही होता है। वैधानिक कानून ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष, जैसे निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था, स्थानों (seats) का बँटवारा, सरकारी विभागों की स्थापना, न्याय विभाग का संगठन, आदि बहुत से देशों में स्वयं संविधान में नहीं शामिल होते, या अगर शामिल होते भी हैं तो केवल उनके सामान्य सिद्धान्त पर ही ध्यान दिया जाता है। उनकी विस्तृत व्यवस्था साधारण कानूनों द्वारा ही होती है। कुछ देशों में, विशेषकर यूरोप तथा अमरीका में, इनमें से कुछ कानूनों को संघटनकारी (Organic) कानून कहा जाता है, अर्थात् ऐसे कानून जिनसे शासन के विभिन्न अंगों का संघटन होता है। जिनसे संविधान द्वारा स्थापित शासन के अंगों के माध्यम से सार्वजनिक अधिकार के प्रयोग का नियंत्रण होता है। ऐसा लगता है कि शासन के अंगों को स्थापना करने वाले और उनके नियंत्रण के लिए व्यापक सिद्धान्तों को निर्धारित करने वाले, संविधान तथा उन अंगों की विस्तृत रचना तथा व्यवहार को निर्धारित करनेवाले संघटनकारी कानूनों के बीच एक प्रकार का मोटा कार्य-विभाजन हो गया है। पर इन्हें संघटनकारी कानून चाहे कहा जाय अथवा नहीं, किन्तु अधिकांश देशों में विधान सभाओं द्वारा समस्त कानूनी नियमों का एक ऐसा समूह अवश्य मौजूद है जो संविधान में शामिल कानूनों का पूरक होता है या जिनके द्वारा शायद उनमें संशोधन अथवा आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी होता है। किसी भी संविधान को संघटनकारी कानूनों से उसके सम्बन्ध को पहचाने बिना भली भाँति नहीं समझा जा सकता।

कानूनी नियम केवल विधान सभाएँ ही नहीं बनातीं। अदालतों की व्याख्याओं से निकलने वाले कानून के नियमों से भी संविधानों में पूर्ति तथा संशोधन

होता है। और कानूनी नियमों के क्षेत्र के बाहर भी, प्रचलित आचार-विचार, रीतिरिवाज तथा रूढ़ियों द्वारा भी संविधान पूरित, संशोधित, अथवा कभी-कभी तो रद्द भी हो जाते हैं। इन सब विषयों पर सातवें और आठवें अध्याय में अधिक विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यदि हम किसी देश के संविधान का अर्थ समझना चाहते हैं, या उसके व्यवहार का वर्णन अथवा उसके गुण-दोषों पर विचार करना चाहते हैं, तो हमें विधान सम्बन्धी नियमों के पूरे समुच्चय की उस व्यापक पृष्ठभूमि में उस पर विचार करना चाहिये, जिसका लिखा हुआ विधान केवल एक अंग मात्र है, यद्यपि प्रायः वह सबसे महत्वपूर्ण अंग ही होता है।

शायद एक बात, जो सम्भवतः वैसे भी काफी स्पष्ट है, यहाँ जोड़ देना आवश्यक है। यह बहुत सम्भव है कि विधान में एक बात कही गयी हो और वास्तव में व्यवहार में एकदम दूसरी ही बात आती हो। किसी संविधान के रूप तथा उसके मूल्य पर विचार करते समय हमें इस सम्भाव्य अन्तर पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। यही नहीं, हमें यह स्वीकार करने के लिए भी तैयार रहना चाहिये कि यद्यपि संविधान दुनिया के लगभग तमाम देशों मे मौजूद हैं, तो भी उनमें से बहुतों में संविधान को उपेक्षा अथवा तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के मध्य में आज यह कहा जा सकता है कि संसार की अधिकांश जनता ऐसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत रहती है जहाँ स्वयं शासन-प्रणाली और विशेष रूप से सरकार संविधान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और उनको अधिक आदर अथवा भय की दृष्टि से देखा जाता है। केवल पश्चिमी यूरोप के राज्यों में, ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के देशों में, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में तथा लैटिन-अमरीका के कुछ राज्यों में ही शासन व्यवस्था संविधान द्वारा लगाये गये बन्धनों को मानकर चलायी जाती है। केवल इन्हीं राज्यों में वास्तविक 'वैधानिक सरकार' का अस्तित्व माना जा सकता है। इस कारण यह अनिवार्य है कि इस पुस्तक में संविधानों के व्यवहार पर विचार करते समय अधिकतर ध्यान इन्हीं देशों की ओर दिया जायगा, क्योंकि केवल इन्हीं देशों में संविधानों के अध्ययन के लिए उपयोगी विचारणीय सामग्री मिल सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे देशों के संविधानों का अध्ययन दिलचस्प नहीं होगा। इसके विपरीत उनमें

ऐसी संस्थाएँ और सिद्धान्त सन्निहित हैं जिनका कम से कम किताबी महत्व तो है ही। साथ ही यह सत्य, कि व्यवहार में उनको माना नहीं जाता, अपने आप में एक ऐसी बात है जिसका विवेचन संविधानों के विद्यार्थी के लिए बहुत ही शिक्षाप्रद हो सकता है।

किसी देश का संविधान यदि उस देश की समूची शासन व्यवस्था का एक अंगमात्र ही होता है, तो फिर इससे क्या अन्तर पड़ता है कि किसी देश में संविधान है अथवा नहीं? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि बहुत से देशों में संविधान का अस्तित्व है, यही तथ्य होने से बड़ा अन्तर पड़ता है। इस बात से एक विशेषता पर प्रकाश पड़ता है जो अधिकांश संविधानों में पायी जाती है। आम तौर पर संविधान को शासन व्यवस्था के अन्य कानूनी नियमों की अपेक्षा किसी-न-किसी हद तक अधिक ऊँचा कानूनी स्थान प्राप्त होता है। कम-से-कम इतना तो माना ही जाता है कि संविधान में संशोधन केवल एक विशेष पद्धति से ही किया जा सकता है जो साधारण कानून बदलने की पद्धति से भिन्न होती है। कभी-कभी, जैसे उदाहरण के लिए अमरीका के संविधान में संविधान सम्बन्धी संशोधन केवल विधान-सभाओं द्वारा नहीं हो सकता, बल्कि उसके लिए अन्य बाह्य संघटनों के सहयोग की जरूरत पड़ती है। यही नहीं, अमरीका में तो अगर काँग्रेस का कोई कानून, अथवा राज्यों की विधान-सभाओं या देश की अन्य कानून बनानेवाली संस्थाओं का कानून, संविधान के उपबन्धों (terms) के विपरीत पड़े तो वह प्रभावशून्य माना जाता है। कुछ और उदाहरण लें तो यही बात कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, भारतवर्ष और आयरलैंड के लिए भी सही है।

किन्तु ऐसे भी कुछ देश हैं जिनमें विधान-सभाएँ साधारण कानून बनाने की पद्धति से ही संविधान में भी संशोधन कर सकती हैं। न्यूज़ीलैण्ड इसी श्रेणी का उदाहरण है (यद्यपि ऐसा १९४७ के अन्त से ही है) और कहा जाता है कि दक्षिणी अफ्रीका में भी परिस्थिति ऐसी ही है। क्या इस परिस्थिति में और ब्रिटेन की मौजूदा परिस्थिति में कोई मौलिक अन्तर है? एकदम कानूनी दृष्टि से तो कोई अन्तर नहीं है। न्यूज़ीलैण्ड में कुछ चुने हुए अधिक महत्वपूर्ण संविधान सम्बन्धी नियम एक अकेले दस्तावेज, संविधान में सन्निहित हैं। ब्रिटेन में ऐसा अकेला कोई दस्तावेज नहीं है; नियम कई एक दस्तावेजों में बिखरे पड़े

हैं। पर दोनों ही जगह विधान-सभाएँ कानून के संविधान सम्बन्धी नियमों से ऊपर हैं। उनके संशोधन करने के अधिकार की कोई कानूनी सीमाएँ नहीं हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि सच पूछा जाय तो न्यूज़ीलैण्ड जैसे देशों में, जहाँ संविधान को साधारण कानूनी पद्धति से बदला जा सकता है, संविधान का अस्तित्व ही मानना सही नहीं है। उनके मत से संविधान का किसी-न-किसी रूप में विधान सभा से ऊपर होना आवश्यक है, उसका साधारण कानून से श्रेष्ठतर होना आवश्यक है। जिस देश में यह पाया जाय कि शासन-प्रणाली को नियन्त्रित करनेवाले तमाम कानूनी नियम, कानून की दृष्टि से साधारण कानूनों के समान ही माने जाते हैं, वहाँ संविधान का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। उनका कहना है कि ब्रिटेन में यह बात स्पष्टतः स्वीकार भी की जाती है, इसमें कुछ अधिक आसानी इसलिए भी है कि ब्रिटेन में किसी एक कानूनी दस्तावेज को संविधान कहलाने का अधिकार प्राप्त नहीं है। किन्तु यही बात इसी प्रकार न्यूज़ीलैण्ड जैसे देश के लिए भी मानी जानी चाहिए, यद्यपि वहाँ किसी एक ही दस्तावेज को संविधान का नाम दिया जाता है।

वास्तव में यह आवश्यक नहीं है कि इतनी कठोर शब्दावली को ही स्वीकार किया जाय। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संविधान जिन संस्थाओं की स्थापना और नियन्त्रण करते हैं उनके ऊपर कानूनी दृष्टि से उनकी श्रेष्ठता सब देशों के संविधानों में एक-सी नहीं होती। यह अन्तर महत्वपूर्ण है, पर इस पर इतना जोर देने की जरूरत नहीं है कि किसी देश की शासन-प्रणाली से सम्बन्धित महत्वपूर्ण नियमों के दस्तावेज को संविधान कहने तक से इन्कार कर दिया जाय। चाहे फिर वे नियम अपने ही द्वारा स्थापित विधान-सभाओं के अधिकार को नियन्त्रित रखने का दावा न करते हों।

इस विवेचन के बाद ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संविधान क्यों बनाये जाते हैं ? क्यों अधिकांश देश अपने संविधान को साधारण कानून से श्रेष्ठतर पद प्रदान करते हैं ? और फिर ब्रिटेन का इस अर्थ में कोई संविधान क्यों नहीं है ?

आधुनिक संविधानों के उद्गम की छानबीन करने से पता चलता है कि लगभग निरपवाद रूप से वे सभी इसलिए बनाये और स्वीकार किये गये थे कि उस विशेष स्थानकी जनता, जहाँ तक उसकी शासन-प्रणाली की घोषणा का

सम्बन्ध था, एक नयी शुरुआत करना चाहती थी। नयी शुरुआत करने की इच्छा अथवा आवश्यकता या तो इसलिए पैदा हुई कि, जैसे संयुक्तराष्ट्र अमरीका में, कुछ पड़ोस में बसनेवाले जनसमूह (communities) एक नयी शासन प्रणाली के अन्तर्गत परस्पर एक सूत्र में बँधना चाहते थे, या जैसा ऑस्ट्रिया अथवा हंगरी अथवा चेकोस्लोवाकिया में १९१८ के बाद हुआ, एक महायुद्ध के फलस्वरूप कुछ जातियाँ किसी साम्राज्य से छुटकारा पाकर अब अपना शासन स्वयं अपने हाथ में ले लेने के लिए स्वतंत्र हो गयी थीं, या फिर जैसा १७८९ में फ्रांस में हुआ और १९१७ में सोवियत यूनियन में, किसी क्रांति के फलस्वरूप अतीत से सम्बन्ध टूट गया था और नये सिद्धान्तों पर आधारित किसी नयी शासन-व्यवस्था की आवश्यकता थी, या फिर युद्ध में परास्त होने के फल-स्वरूप शासन-व्यवस्था की परम्परा भंग हो गयी थी और युद्ध के बाद नये सिरे से शुरू करने की जरूरत थी, जैसा १९१८ के बाद जर्मनी में और १८७५ तथा १९४६ के बाद फ्रान्स में हुआ। जिन परिस्थितियों में अतीत से सम्बन्ध टूटता है और नये आरंभ की आवश्यकता महसूस होती है, वे देश-देश में अलग होती हैं, पर आधुनिक काल में संविधान बनाने की आवश्यकता प्रायः प्रत्येक देश को ही केवल इस साधारण और छोटे से कारण से ही हुई है कि किसी-न-किसी कारण उन्हें नये सिरे से शुरुआत करनी पड़ी और इसलिए उन्होंने अपनी प्रस्ता-वित शासन-प्रणाली की कम-से-कम मोटी रूपरेखा तो लिख कर रख ही ली। १७८७ में अमरीकी संविधान बनने के बाद से तो निश्चित ही चलन यही रहा है और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों निस्संदेह अनुकरण और मौजूद उदाहरण के प्रभाव के कारण तमाम देशों को संविधान बनाने की आवश्यकता महसूस होती गयी।

किन्तु इस बात से यह स्पष्ट नहीं होता कि कुछ देशों में संविधान को अन्य कानूनी नियमों की अपेक्षा अधिक ऊँचा कानूनी दर्जा देना क्यों जरूरी समझा जाता है। इस बात का संक्षिप्त-सा उत्तर यही है कि बहुत से देशों में संविधान को शासन-व्यवस्था पर नियंत्रण रखने का साधन समझा जाता है। संविधान शासन-व्यवस्था को सीमाबद्ध करने की आवश्यकता रखने के विश्वास में से ही उपजते हैं किन्तु इस बात पर देश-देश में मतभेद होता है कि उसे किस हद तक

सीमित किया जाय। कभी-कभी संविधान कार्यकारिणी अथवा अधीनस्थ स्थानीय निकायों के अधिकार को सीमित करता है, कभी-कभी वह विधान-सभा के अधिकार को भी स्वयं संविधान में संशोधन करने के मामले में सीमित कर देता है, और कभी-कभी वह विधान-सभाओं पर इससे भी व्यापक बन्धन लगा देता है और कुछ विषयों पर कुछ प्रकार के अथवा कुछ विशेष प्रभाव वाले कानून बनाने की मनाही कर देता है। किन्तु इन बन्धनों का स्वरूप और सीमा चाहे जो भी हो, वे सभी शासन-व्यवस्था के अधिकार को सीमित रखने में और इन बन्धनों को लगाने में संविधान के प्रयोग में विश्वास पर आधारित हैं।

किसी शासन-व्यवस्था पर लगाये जाने वाले बन्धन, और इसलिए शासन-व्यवस्था के ऊपर संविधान की श्रेष्ठता, इस बात पर निर्भर करती है कि संविधान के निर्माता किन हेतुओं की रक्षा करना चाहते हैं। पहला हेतु तो यही हो सकता कि संविधान में बिना सोचे-समझे या असावधानी के साथ, किसी छल से या बहाने से परिवर्तन न हो सके। वे इस बारे में निश्चिन्त होना भी चाह सकते हैं कि इस महत्वपूर्ण दस्तावेज में जब जी चाहे उलटफेर न किया जा सके बल्कि गंभीरतापूर्वक उचित समय ले कर और विवेचन के बाद सोच-समझ कर संशोधन किया जाय। ऐसी अवस्था में संवैधानिक संशोधन के लिए किसी विशेष पद्धति की आवश्यकता समुचित है—जैसे विधान-सभाएँ केवल दो तिहाई बहुमत द्वारा अथवा आम चुनाव के बाद अथवा शायद तीन महीने की सूचना देने पर ही संविधान में परिवर्तन कर सकती हैं।

संविधान का निर्माण करने वालों के मन में प्रायः इससे अधिक बात रहा करती है। उन्हें शायद लगे कि विधान-सभाओं तथा मंत्रिमंडल (executive) के बीच एक विशेष प्रकारका सम्बन्ध होना जरूरी है, या न्याय-व्यवस्था को विधान-सभाओं तथा मंत्रिमंडल (executive) से किसी हद तक सुनिश्चित स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। उन्हें यह भी लग सकता है कि नागरिकों के कुछ ऐसे अधिकार होते हैं जिन पर प्रहार करना या जिन्हें छीनना विधान-सभाओं या मंत्रिमंडल (executive) के लिए संभव न होना चाहिए। उन्हें यह भी लग सकता है कि कुछ कानून एकदम नहीं बनाये जाने चाहियें। उदाहरण के लिए अमरीकी संविधान निर्माताओं ने कांग्रेस के लिए ऐसा कोई कानून बनाने

का निषेध कर रक्खा है जो उस कार्य अथवा परिस्थिति के घटित होने के बाद बने जिसको वह नियंत्रित करना चाहता है—ऐसा कानून जिसके द्वारा एक आदमी को किसी ऐसे कार्य के फलस्वरूप अपराधी घोषित किया जा सके जिसे करना, करते समय अपराध न था। १९३७ के आयरलैंड के संविधान निर्माताओं ने तलाक की अनुमति देने वाला कोई कानून बनाने की मनाही कर दी थी। इसी प्रकार जब पृथक् तथा भिन्न-भिन्न जनसमूह (communities) किसी एक सामान्य शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित होने का निश्चय करें पर साथ ही अपने कुछ अधिकार सुरक्षित भी रखना चाहें तो भी कुछ रक्षणों (safeguards) की ज़रूरत पड़ सकती है और यदि इन समूहों की भाषा, जाति (race) और धर्म भी अलग-अलग हों तो इन जातिगत विशेषताओं के अबाध उपयोग के लिए भी रक्षण की आवश्यकता हो सकती है। कुछेक उदाहरणों में तो जिन लोगों ने स्विट्ज़रलैंड, कनाडा तथा दक्षिणी अफ्रीका के संविधान बनाये, उन्हें इन बातों पर ध्यान देना पड़ा था। यह भी हो सकता है कि भाषा, जाति अथवा धर्मगत अन्तर न होने पर भी कुछ जनसमूह तब तक एक होने के लिए तैयार न हों जब तक संघ के भीतर एक सीमा तक स्वाधीनता का आश्वासन उन्हें न मिल जाय। इस माँग को पूरा करने के लिए संविधान में न केवल संघ की सरकार तथा उसके अंतर्गत अलग-अलग अंगों की सरकारों के अधिकारों का विभाजन आवश्यक है, बल्कि साथ ही जहाँ तक संविधान की इस अधिकार-विभाजन की स्थापना और उसके संरक्षण का प्रश्न है कम-से-कम वहाँ तक उसका सर्वोपरि (supreme) होना भी आवश्यक है।

यह हो सकता है कि कुछ देशों में उपर्युक्त परिस्थितियों में से केवल एक ही लागू होती हो, कुछ में कई एक और कुछ में तमाम परिस्थितियाँ मौजूद हों। इस भाँति आयरलैण्ड के संविधान के निर्माता इस बात के लिए बड़े चिन्तित थे कि संशोधन की प्रक्रिया बड़ी सजग होनी चाहिये। नागरिकों के अधिकारों का रक्षण होना चाहिए, और कुछ प्रकार के कानून एकदम बनाये ही नहीं जाने चाहियें। इसलिए उन्होंने संविधान को सर्वोच्च सत्ता प्रदान की और इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विधान-सभा पर प्रतिबन्ध लगा दिये। अमरीकी संविधान के निर्माताओं के दिमाग में भी ये उद्देश्य मौजूद थे पर इनसे भी अधिक उन्हें उन

तेरह उपनिवेशों की इस इच्छा का भी ध्यान रखना था जो कुछ बातों के लिए तो संघबद्ध होने को तैयार थे और बाकी बातों में स्वाधीन रहना चाहते थे। संविधान को सर्वोपरि बनाने और उसमें कुछ अतिरिक्त रक्षणों की व्यवस्था करने का एक यह भी कारण था।

संविधानों की सर्वोपरिता (supremacy) तथा उनमें संशोधन करने के लिए विशेष बन्धनों के बारे में अगले अध्यायों में विस्तार से चर्चा की जायगी। यहाँ इस बात पर ध्यान देना ही काफी है कि कई प्रकार के कारणों से संविधानों के निर्माता प्रायः उनसे शासन-व्यवस्था के अधिकारों को सीमित करने का काम भी लेना चाहते हैं, यद्यपि इन प्रतिबन्धों की सीमा हर संविधान में अलग-अलग होती है।

इस भाँति ऐसे संविधान बहुत ही थोड़े हैं जो उपर्युक्त कारणों में से किसी एक अथवा अधिक कारण से विधान-सभा पर कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध न लगाते हों। जहाँ कोई प्रतिबन्ध नहीं मिलते वहाँ या तो संविधान का कोई आदर नहीं है, और या, फिर न्यूज़ीलैण्ड की भाँति, उसका आदर तो बहुत है और संविधान में कोई कानूनी शर्त न लगाने पर भी उसका संशोधन केवल बहुत सोच-विचार कर और जनता की राय भली भाँति जानकर ही किया जा सकता है।

ब्रिटेन में कोई संविधान क्यों नहीं है ? इस सवाल का पूछना जितना आसान है उसका उत्तर देना उतना आसान नहीं और ब्रिटेन के संवैधानिक इतिहास की रूपरेखा बताकर लम्बा-चौड़ा उत्तर देने की अपेक्षा संक्षिप्त उत्तर देना और भी कठिन है। पर संक्षिप्त उत्तर हम कुछ इस प्रकार का शायद दे सकें। विधान बनाने के पहले उद्देश्य पर—नये सिरे से प्रारम्भ करने की इच्छा पर—विचार कीजिये। क्या इंगलैण्ड को कभी इस बात का अनुभव हुआ है ? कभी-कभी लोग इस प्रकार की चर्चा करते हैं मानों यह अनुभव कभी हुआ ही न हो। वे ऐसे बात करते हैं मानों प्राचीन काल से ही विकास की कोई अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही हो, मानों थोड़ी-सी प्राथमिक संस्थाएँ ही धीरे-धीरे व्यवहारानुकूल होकर अधिक परिपूर्ण होती गयी हों और अन्त में व्यापक होकर अधिक जनवादी (democratic) बन गयी हों, यहाँ तक कि मानों निरंकुश एकतन्त्रवाद (absolute monarchy) ने ही बदलकर पार्लियामेंटरी जनवाद

(parliamentry democracy) का रूप ले लिया हो। पर ब्रिटेन के इतिहास में भी एक बार शृंखला टूटी थी और उस समय नये सिरे से प्रारंभ करने का, शासन-व्यवस्था के नये सिद्धान्तों को एक बार संविधान में प्रतिष्ठित करने का, प्रयत्न भी हुआ था। यह विशृंखलता १६४२ में गृहयुद्ध के तथा १६४९ में चार्ल्स प्रथम के वध के साथ आयी थी। 'कॉमनवेल्थ' और 'प्रोटेक्टोरेट' के दिनों में, अर्थात् १६४९ से १६६० के बीच, एक संविधान की स्थापना के कई प्रयत्न किये गये। और ये प्रयत्न केवल इंगलैंड के लिए ही नहीं, समूचे ब्रिटिश द्वीपसमूह के लिए हुए थे, क्योंकि क्रामवेल ने इंगलैंड, आयरलैंड और स्कॉट्लैंड तीनों का एक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत एकीकरण कर लिया था। संविधान की स्थापना के इन प्रयत्नों में सबसे प्रसिद्ध है १६५३ का शासन तंत्र (Instrument of Government)। संविधान को जिस रूप में हम आज जानते हैं उसके सभी चिन्ह इस दस्तावेज में मौजूद हैं। यदि कॉमनवेल्थ चलती रहती तो इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा ब्रिटिश संविधान भी बन गया होता जिसमें गृहयुद्ध के संघर्ष से प्रगट होनेवाली शासन-व्यवस्था के सभी बुनियादी सिद्धान्त सन्निहित होते। उस समय के इंगलैंड निवासी नये सिरे से प्रारंभ करने के लिए तैयार थे, वे शासन-व्यवस्था के अधिकारों को सीमित करना चाहते थे और विधान-सभा तथा मंत्रिमंडल के बीच उचित सम्बन्ध के बारे में तथा प्रजा के अधिकारों के बारे में उनकी कुछ निश्चित धारणाएँ भी थीं। इन्हें उन लोगों ने अपने संविधान-निर्माण सम्बन्धी विविध प्रयत्नों में समाविष्ट भी किया था।

किन्तु अंततः वे एकमत न हो सके और अपने किसी भी संविधान के लिए पर्याप्त समर्थन न जुटा सके। इस प्रकार चार्ल्स द्वितीय गद्दी पर लौट आया और पुनःस्थापना (Restoration) की घटना घटी। पुनःस्थापना शब्द महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे प्रगट होता है कि १६६० में कोई संविधान क्यों नहीं बनाया गया। चार्ल्स द्वितीय की वापसी फिर से प्रारंभ करना जैसा लगता अवश्य है, पर वास्तव में वह है नहीं। उसका अर्थ था पुरानी शासन-व्यवस्था की ओर लौटना, पुरानी व्यवस्था का पुनःस्थापन। इसलिए जो लोग इंगलैण्ड की शासन-व्यवस्था के इतिहास में अविच्छिन्न विकास की बात करते हैं उनकी बात में बहुत कुछ सचाई है। एक बार कड़ी टूटी थी और एक संविधान बना

कर नये सिरे से प्रारंभ करने का प्रयत्न अवश्य हुआ था, पर वह असफल रहा और पुरानी व्यवस्था फिर से कायम हो गयी।

पर यह पूछा जा सकता है कि १६८८ की क्रान्ति तथा अधिकार कानून (Bill of Rights) को क्या कहेंगे ? क्या वह पुरानी व्यवस्था का भंग होना और नये सिरे से प्रारंभ होना नहीं था ? क्या अधिकार कानून (Bill of Rights) को संविधान नहीं माना जा सकता ? असल में यहाँ भी इंगलैंड का संविधान बनते-बनते रह गया। अधिकार कानून अवश्य ही संवैधानिक मामलों से सम्बन्धित है। विशेष रूप से राजा के अधिकारों को सीमित करने और प्रजा के कुछ अधिकारों के रक्षण पर उसमें बहुत ध्यान दिया गया है। इंगलैंड में संविधान का निकटतम रूप यही है। पर उसमें बहुत ही छोटे से क्षेत्र को लिया गया है और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें पार्लियामेंट के अधिकारों को सीमित करने का कोई प्रयत्न नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि १६८८ की क्रांति का एक परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में कानूनी तौर पर पार्लियामेंट की पूर्ण सर्वोपरिता (supremacy) अथवा उसके पूर्ण प्रभुत्व (sovereignty) के सिद्धान्त का विकास हुआ।

इससे एक दिलचस्प और महत्वपूर्ण परिणाम निकला। पार्लियामेंट के सर्वोपरि कानून बनाने वाली संस्था बन जाने से पार्लियामेंट के अधिकारों को सीमित करने वाला कोई संविधान नहीं बनाया जा सका। यदि कानूनी दृष्टि से एकदम असीमित इन अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने हों तो वे अ-कानूनी उपायों से ही लगाये जा सकते हैं—लोकमत द्वारा, चुनावों द्वारा, रूढ़ियों और स्वीकृत मान्यताओं के द्वारा। यही कारण है कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में जब दुनिया के कुछ देशों में जनता विधान-सभाओं के अधिकारों को सीमित करने वाले संविधानों के निर्माण में लगी हुई थी, तब ब्रिटेन में पार्लियामेंट ही सर्वोपरि थी और उस पर नियंत्रण विधान के कानून द्वारा नहीं बल्कि राजनीतिक साधनों से होता था। प्रजा के अधिकारों को मनवाने अथवा सरकार के अधिकार को सीमित करने के लिए ब्रिटिश जनता भी दूसरे देशों की जनता की अपेक्षा कम इच्छुक नहीं थी, पर उसके संवैधानिक संघर्ष के फलस्वरूप उसकी पार्लियामेंटने राजा के ऊपर विजय प्राप्त कर ली थी, यह विजय सम्पूर्ण थी

और पार्लियामेंट को एक ऐसा सर्वोच्च, सर्वोपरि रूप प्राप्त हो गया था जिसके ऊपर कोई संविधान नहीं माना जा सकता था।

हम देख चुके हैं कि एक और कारण से देशों को संविधान की जरूरत पड़ती है। वह यह है कि दूसरों के साथ एकीकरण स्थापित करते समय वे कुछ अधिकार अपने पास ही रखना चाहते हैं या इस एकता में कुछ शर्तों के लिए रक्षण चाहते हैं। इंगलैंड का स्कॉट्लैंड के साथ १७०७ में और आयरलैंड के साथ १८०१ में एकीकरण हुआ और यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उस समय क्यों कोई संविधान नहीं बना। एक कारण तो यह है कि ये एकीकरण संघीय एकीकरण नहीं थे, दोनों ही बार स्थानीय संसद का अंत करके स्कॉट्लैंड तथा आयरलैंड का इंगलैंड के साथ उस एक ही पार्लियामेंट के अंतर्गत पूर्ण वैधानिक एकीकरण किया गया था जिसे सर्वोच्च स्वीकार किया जाता था। इसलिए स्कॉट्लैंड अथवा आयरलैंड की संसदों को कोई ऐसे विधान सम्बन्धी अधिकार नहीं दिये जाने थे जिनके लिए किसी संविधान के संरक्षण की जरूरत हो। साथ ही यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एकीकरण के समय कुछ ऐसे आश्वासन दिये गये थे जो समझौते के अंग थे। इस भाँति स्कॉट्लैंड और आयरलैंड के साथ एकीकरण के कानूनों में कुछ धार्मिक आश्वासनों का उल्लेख किया गया और यह कानून बना दिया गया कि वे सदा अपरिवर्तित रहेंगे। किन्तु तो भी बाद में उन्हें या तो खत्म कर दिया गया या उनमें सशोधन कर दिया गया क्योंकि पार्लियामेंट की सर्वोपरिता स्वयं पार्लियामेंट पर कोई बन्धन लादने से रोकती है। एक बार उस सर्वोपरिता की स्थापना के बाद स्कॉट्लैंड या आयरलैंड के साथ एकीकरण के समय कोई ऐसा अटल संविधान नहीं बनाया जा सकता था जो उस मौलिक सिद्धान्त पर आघात न करता। इसमें संदेह नहीं कि एकीकरण के समय यदि अंग्रेजी पार्लियामेंट अपने आपको एक संविधान द्वारा नियंत्रित करने के लिये तैयार होती तो यह करना संभव था। पर वास्तव में उस समय शासन-प्रणाली का सर्वप्रमुख सिद्धान्त ही था पार्लियामेंट की सर्वोपरिता।

इसलिए ऐसा लगता है कि जिस प्रकार के प्रभावों के फलस्वरूप दूसरे देशों को संविधान बनाने पड़े वे या तो इंगलैंड पर पड़े ही नहीं, या बहुत देर से सक्रिय हुए अथवा अधिक शक्तिशाली विपरीत प्रभावों से दब गये। इंगलैंड ने

कम-से-कम एक बार तो अवश्य क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के बाद नये सिरे से प्रारंभ किया था और एक संविधान के अंतर्गत चलने का प्रयत्न किया था, पर पुनःस्थापना (Restoration) ने उस सब का अंत कर दिया। १६८८ के बाद पार्लियामेंट की सर्वोपरिता के सिद्धान्त के विकास ने किसी ऐसे संविधान की संभावनाको ही खत्म कर दिया जो विधान-सभा पर नियंत्रण कर सके। स्कॉटलैंड और आयरलैंड के साथ एकीकरण इसी सर्वोपरि पार्लियामेंट के चौखटे में हुआ और उसमें उन देशों की संसदों का ही अंत हो गया। इस भाँति जब-जब भी ब्रिटेन में संविधान बनने की संभावना पैदा हुई, तब-तब ही उसमें कोई-न-कोई रुकावट आ गयी।

इस बात का यह अर्थ नहीं कि ब्रिटेन में संविधान बन ही नहीं सकता। ऐसा होना संभव है कि जनमत इस बात की जोरों से माँग करे कि पार्लियामेंट के अधिकार आयरलैंड की संसद की भाँति किसी संविधान द्वारा कानूनी तौर पर सीमित कर दिये जायें और यह जनमत ही प्रबल हो जाय। अगर ब्रिटेन में कभी संघीय व्यवस्था की स्थापना हुई तो एक सर्वोपरि संविधान बनाना ही पड़ेगा। इस समय केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अभी तक ऐसा नहीं हुआ है और अगर ऐसा करना हो तो ब्रिटिश शासन-प्रणाली के कानून को बदलना पड़ेगा—पार्लियामेंट की सर्वोपारिता के सिद्धान्त को तिलांजलि देनी पड़ेगी। किन्तु इतनी दूर तक गये बिना भी ब्रिटेन में संविधान बनाया जा सकता है। कोई कारण नहीं कि शासन-व्यवस्था सम्बन्धी प्रमुख कानूनी नियमों को एक स्थान पर एकत्र करके पार्लियामेंट द्वारा उसे कानूनी शक्ल न दे दी जाय। इस संविधान को पार्लियामेंट के किसी अन्य कार्य से अधिक उच्च स्थान प्राप्त न होगा, वह पार्लियामेंट को तो नियंत्रित न कर सकेगा, पर स्वभावतः ही देश की अन्य प्रत्येक संस्था और व्यक्ति पर उसका नियंत्रण होगा। देश के कानून में उसका उसी प्रकार स्थान होगा जैसा न्यूज़ीलैंड में न्यूज़ीलैंड के संविधान का है। वह एक दिलचस्प और शायद उद्बोधक दस्तावेज होगा; निश्चय ही उसमें संवैधानिक इतिहास की कुछ महानतम घोषणाएँ मौजूद होंगी। पर अधिकांश इंगलैंडवासी इस एकत्रीकरण को और कानून बनाने को अगर समय की बर्बादी नहीं तो कम-से-कम दिमागी कसरत अवश्य मानेंगे—जिन दोनों में शायद उन्हें कोई अंतर

न जान पड़े। क्योंकि जैसा अवर म्यूच्युल फ्रेंड में मि० पादस्नैप ने फ्रांसीसी सज्जन से कहा था—

"हम अंग्रेजों को अपने संविधान पर बड़ा अभिमान है, महोदय! वह हमें भगवान ने प्रदान किया है। किसी दूसरे देश पर भगवान की इतनी कृपा नहीं है जितनी हमारे देश पर।"

"और दूसरे देश," फ्रांसीसी सज्जन ने पूछा—"वे कैसे काम चलाते हैं?"

"वे, महोदय," मि० पादस्नैप ने गंभीरतापूर्वक सिर हिलाते हुए कहा—"वे तो, मुझे बड़े अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि, जैसे चलाते हैं वैसे ही चलाते हैं।"

"भगवान ने अवश्य ही कुछ विशेष ध्यान दिया होगा," फ्रांसीसी सज्जन ने हँसते हुए कहा—"क्योंकि इस देश की सीमा बड़ी तो है नहीं।"

"इसमें क्या शक है," मि० पादस्नैप ने स्वीकार किया। "पर बात है ही ऐसी। इस देश के ऊपर भगवान ने कृपा की और ऐसे तमाम देश छोड़ दिये जैसे—जैसे जो भी हो। और अगर यहाँ सब अंग्रेज ही मौजूद होते तो मैं कहता कि अंग्रेज के अंदर गुणों का, एक प्रकार की विनय, एक प्रकार की स्वाधीनता, जिम्मेदारी, संयम और साथ-ही-साथ उन तमाम चीजों का अभाव जिनसे जवान व्यक्ति का चेहरा लज्जा से लाल हो जाय—इन सब का एक ऐसा मिश्रण है जो दुनिया के किसी देश में ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता।"

ऐसे लोगों के लिए, यह सभी स्वीकार करेंगे, किसी संविधान की जरूरत नहीं है। पर जैसा मि० पादस्नैप ने कहा, दूसरे देश तो अपना काम जैसे चलाते हैं वैसे चलाते ही हैं। और यदि ऐसा है तो यह आवश्यक है कि हम नजर घुमाएँ और देखें कि वे कैसे अपना काम चलाते हैं।

---

# २ : संविधानों का वर्गीकरण

बहुत से लोग संविधानों का दो श्रेणियों में वर्गीकरण करते हैं—लिखित और अ-लिखित; और फिर साथ ही ब्रिटेन को दूसरी श्रेणी का एकमात्र उदाहरण बताया करते हैं। यह स्पष्ट ही है कि इस पुस्तक में हम 'संविधान' की जो परिभाषा स्वीकार करके चले हैं, उसके अनुसार लगभग सभी संविधान लिखित ही होते हैं। हमने 'संविधान' शब्द से यही अर्थ ग्रहण करना अभिप्रेत समझा है कि संविधान शासन-प्रणाली को नियंत्रित करनेवाले उन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कानूनी नियमों का नाम है जो किसी एक दस्तावेज में, या कभी-कभी स्वीडन की भाँति कई एक दस्तावेजों में लिखे रहते हैं। इस अर्थ में दुनिया के अधिकांश देशों का संविधान लिखित ही है। ब्रिटेन के बारे में असलियत यह नहीं है कि उसका संविधान अ-लिखित है बल्कि यह कि उसका कोई लिखित संविधान है ही नहीं।

पर जो लोग लिखित और अ-लिखित संविधानों के भेद की बात करते हैं, उनकी नजर सचमुच एक महत्वपूर्ण अन्तर पर होती है। वे देखते हैं कि शासन-पद्धति को नियन्त्रित करनेवाले कुछ नियम—अधिकतर कानूनी नियम—तो ऐसे होते हैं जो या तो किसी संविधान में या संसद (पार्लियामेंट) के किसी अधिनियम में अथवा किसी अन्य कानूनी दस्तावेज में लिखे होते हैं; और दूसरे कुछ नियम, विशेष कर शासन-पद्धति को नियन्त्रित करनेवाली परिपाटियाँ, रीति-रिवाज,

आचार-विचार आदि, ऐसे होते हैं जो साधारणतः सुनिश्चित रीति से शब्दबद्ध करके लिखे हुए नहीं होते। इस अन्तर को शासन-प्रणाली के लिखित और अ-लिखित नियमों का अन्तर बताना शायद मोटे तौर पर सही कहा जा सके, यद्यपि इसमें भी सन्देह की गुंजाइश है। कुछ कानूनी नियम भी इस अर्थ में अ-लिखित होते हैं कि वे किसी संविधान में अथवा किसी संविधि (statutes) में लिखे नहीं गये हैं; दूसरी ओर कुछ परिपाटियाँ भी लिखी हुई होती हैं। १९३१ की वेस्टमिनिस्टर संविधि में एक ऐसी संवैधानिक परिपाटी का उदाहरण है जो यूनाइटेड किंगडम और उपनिवेशों के पार्लियामेंट को निम्नलिखित बन्धन में बाँधती है—"यह बात कॉमनवेल्थ के सभी सदस्यों की पारस्परिक स्वीकृत संवैधानिक स्थिति के अनुरूप होगी कि राजा के उत्तराधिकार अथवा पदमर्यादा-सम्बन्धी कानून में परिवर्त्तन करने के लिए अब से यूनाइटेट किंगडम की पार्लियामेंट की स्वीकृति के साथ-साथ तमाम उपनिवेशों की संसदों की स्वीकृति भी आवश्यक होगी।"

किन्तु अगर हम कानूनी और अ-कानूनी नियमों को लिखित और अ-लिखित नियमों का पर्यायवाची मानने के सिद्धान्त के अपवादों की ओर ध्यान न भी दें, तो भी हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि, यूनाइटेड किंगडम की तो बात ही छोड़ दीजिये, कोई और भी देश ऐसा हो सकता है जिसकी शासन-पद्धति सम्पूर्ण रूप से केवल लिखित अथवा सर्वथा अ-लिखित नियमों के सहारे चलती हो। पिछले अध्याय में इस बात पर जोर दिया गया था कि तमाम देशों में, और ब्रिटेन में भी, कानूनी और कानून के बाहर वाले, लिखित और अ-लिखित दोनों प्रकार के नियमों को मिलाकर ही शासन-पद्धति बनती है। 'संविधान' शब्द का हम चाहे संकुचित अर्थ में व्यवहार करें—जैसा हम इस पुस्तक में कर रहे हैं—अथवा समूची शासन-पद्धति को ग्रहण करने के व्यापक अर्थ में, ब्रिटेन का कोई अ-लिखित संविधान नहीं है। किसी भी ऐसे देश का नाम लेना कठिन होगा जिसमें ऐसी अवस्था हो। इसलिए संविधानों का लिखित और अ-लिखित रूप में वर्गीकरण नहीं करना चाहिये। इससे अच्छा यह होगा कि दो प्रकार के देश माने जायँ—एक जिनका लिखा हुआ संविधान है और दूसरे वे जिनका लिखा हुआ संविधान नहीं है; दूसरे शब्दों में कुछ देश ऐसे हैं जिनमें संविधान मौजूद है और कुछ ऐसे हैं जिनमें नहीं है। साथ ही शासन-

व्यवस्था को नियन्त्रित करनेवाले तमाम नियमों के समुच्चय में कानूनी और कानून के बाहर वाले नियमों में अन्तर करना निश्चय ही उपयोगी भी है और महत्वपूर्ण भी। बाद के एक अध्याय में इस बात पर विचार किया जायगा कि इन दो प्रकार के नियमों का एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है, विशेषकर लोकरूढ़ियों और परिपाटियों का संविधान के कानून पर क्या प्रभाव पड़ता है।

संविधानों में संशोधन करनेकी पद्धति के अनुसार भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। एक कोटि उन संविधानों की हो सकती है जिनमें अन्य कानूनों की भाँति ही सामान्य पद्धति से विधान-सभाओं द्वारा संशोधन किया जा सकता है, और दूसरी कोटि में वे संविधान आते हैं जिसमें संशोधन के लिए किसी विशेष पद्धति की आवश्यकता होती है। पहली कोटि के संविधान बहुत कम हैं—जैसे न्यूज़ीलैंड का संविधान। दूसरी कोटि में दुनिया के अधिकांश संविधान आते हैं—सोवियत यूनियन से लगा कर, जहाँ सर्वोच्च सोवियत की दोनों सभाओं में अलग-अलग दो-तिहाई बहुमत होने भर से काम चल जाता है, अमरीका, स्विट्ज़रलैंड या आस्ट्रेलिया के संविधान तक, जहाँ केवल संसद मात्र संविधान में संशोधन नहीं कर सकती बल्कि उसके लिए जनता की अथवा अन्य संस्थाओं की सहमति तथा सहयोग की ज़रूरत पड़ती है। संविधानों के वर्गीकरण के इस ढंग को आम तौर पर शिथिल (flexible) तथा कठोर संविधानों के रूपमें वर्गीकरण माना जाता है। इस वर्गीकरण के जन्मदाता हैं लार्ड ब्राइस जिन्होंने अपनी पुस्तक **स्टडीज़ इन हिस्ट्री एंड ज्यूरिस्प्रूडेंस** में इसका विवेचन किया है। जिस संविधान के संशोधन के लिए किसी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती उसे 'शिथिल' कहा जाता है, और जहाँ विशेष व्यवस्था की आवश्यकता होती है उसे 'कठोर' संविधान कहते हैं।

इस प्रकार के वर्गीकरण की कुछ उपादेयता अवश्य है। यह एक वास्तविक और सही विभेद पर आधारित है। 'शिथिल' और 'कठोर' शब्दों का एक लाभ यह भी है कि मात्रा का अन्तर भी उनके द्वारा सूचित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि नॉर्वे, फ्रांस अथवा सोवियत यूनियन की अपेक्षा अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, डेनमार्क और स्विट्ज़रलैंड के संविधानों में संशोधन के लिए कानूनी बाधाएँ कहीं अधिक हैं; इसलिए इन अन्तिम चार देशों

के संविधान पहले तीन देशों के संविधानों की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। संविधानों को कठोरता की मात्रा के अनुसार भी रक्खा जा सकता है, यद्यपि निस्संदेह कई बार यह कहना कठिन होगा कि कौन-सी बाधा अधिक कठोरता उत्पन्न करती है और कौन-सी कम। किन्तु ऐसे तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी तो होते ही हैं।

किन्तु संविधानों के 'शिथिल' तथा 'कठोर' रूप में वर्गीकरण करने में कुछ असुविधाएँ भी हैं। सबसे पहले तो इस वर्गीकरण से संविधान के बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर ही होती है। जिस वर्गीकरण-प्रणाली से संसार के अधिकांश संविधान 'कठोर' की कोटि में आ जायें और बाकी एक-दो दूसरी कोटि में, उससे हमें कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। इससे भी अधिक महत्व-पूर्ण बात यह है कि ये शब्द अनिवार्य रूप से भ्रमोत्पादक हैं। उनसे हम यह सोचने लग जाते हैं कि जिस संविधान में संशोधन के लिए अधिक कानूनी बाधाएँ मौजूद हों, उसे बदलना अधिक कठिन होगा और इसलिए वह उन संवि-धानों की अपेक्षा बहुत कम बदला जायगा जिनमें बाधाएँ कम हैं या जिनमें कोई विशेष बाधाएँ हैं ही नहीं। किन्तु 'कठोर' और 'शिथिल' के अन्तर की यह व्याख्या गलत है। वह अन्तर केवल इस बात को सूचित करने के लिए है कि संशोधन की कानूनी प्रक्रिया के लिए कुछ नियमित रुकावटें अमुक संविधान में हैं अथवा नहीं है। किन्तु अनिवार्य रूप से धीरे-धीरे इन शब्दों का उपयोग लापरवाही से होने लगता है और इस भाँति कठोर संविधान वह माना जाने लगता है जिसे कानूनी बाधाएँ मौजूद होने के कारण बदलना कठिन है और इसलिए बहुत ही कम बदला जाता है, और शिथिल संविधान वह जिसको बदलने के लिए किसी विशेष परिस्थिति की आवश्यकता न होने के कारण आसानी से बदला जा सकता है और बदला जाता भी है। वास्तव में यह निष्कर्ष सर्वथा अनधिकृत है और सच नहीं है। स्विस संविधान, जो संशोधन की कानूनी शर्तों के अनुसार 'कठोर' माना जायगा, फ्रांस के तीसरे प्रजातन्त्र के संविधान की अपेक्षा बहुत अधिक बार और कहीं अधिक आसानी से बदला जा चुका है। फ्रांस के इस संविधान में संशोधन करने के लिए दोनों विधान-सभाओं की, प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) और सिनेट की सम्मिलित बैठक से अधिक और कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर ऑस्ट्रेलिया के संवि-

धान में, जिसमें संशोधन की पद्धति लगभग स्विस संविधान जैसी ही है, तेईस प्रयत्नों में केवल चार बार ही संशोधन सम्भव हो सका है।

सच बात यह है कि संविधान में संशोधनों की संख्या और उनका बार-बार होना केवल परिवर्त्तन करने की कानूनी पद्धति पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि वह देश के प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक दलों पर भी निर्भर करता है, और इस बात पर निर्भर करता है कि ये दल संविधान द्वारा निर्देशित राजनीतिक अधिकारों के संगठन और बँटवारे को किस हद तक स्वीकार करते हैं अथवा उससे किस हद तक सन्तुष्ट हैं। यदि संविधान उनके मनोनुकूल है तो वे उसमें परिवर्त्तन नहीं करेंगे, फिर चाहे उसमें संशोधन करने के लिए संसद के साधारण अधिनियम से अधिक किसी चीज की जरूरत न हो। बल्कि उनका विरोध होने पर असन्तुष्ट अल्पसंख्यक भी उसमें परिवर्त्तन करना चाहे तो उनके सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि प्रमुख दलों के लोग संविधान में परिवर्तन करना ही चाहते हैं तो फिर उसके लिए चाहे जितनी विशेष कानूनी बाधाएँ क्यों न हों, संशोधन अवश्य ही होकर रहेगा। इस बात का यह अर्थ नहीं कि इन कानूनी बाधाओं का कोई महत्व नहीं है। ऑस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैण्ड, डेनमार्क और अमरीका मे अल्पसंख्यक मतदाता भी संविधान मे संशोधन होने में रुकावट डाल सकते हैं। पर ये कानूनी बाधाएँ उन समूची परिस्थितियों का केवल एक अंशमात्र हैं जिनसे यह निर्धारित होता है कि अमुक संविधान में परिवर्त्तन आसानी से और बार-बार होगा अथवा नहीं।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए शायद यह अधिक उपयुक्त होगा कि 'शिथिल' और 'कठोर' शब्दों द्वारा संविधानों का वर्गीकरण इस आधार पर नहीं किया जाय कि उनमे संशोधन करने के लिए किसी ऐसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है जो साधारण कानून को बदलने के लिए आवश्यक नहीं होती। बल्कि इन शब्दों का उपयोग इस आधार पर होना चाहिये कि अमुक संविधान व्यवहार में, विविध परिस्थितियों के फलस्वरूप, आसानी से और प्रायः बदला जाता है अथवा नहीं। अवश्य ही यह अर्थ इन शब्दों के उस अर्थ से भिन्न है जिसके लिए ब्राइस ने उनका उपयोग किया था, पर यह कम भ्रामक है। इस अन्तर के अनुसार ऑस्ट्रेलिया, डेनमार्क, नॉर्वे, अमरीका और तीसरे प्रजा-

तन्त्र के अन्तर्गत फ्रांस के संविधान शायद कठोर संविधानों में गिने जायेंगे, और स्विट्ज़रलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका के शिथिल संविधानों में।

संविधानों के वर्गीकरण की एक और भी पद्धति है जिसका प्रारम्भिक अर्थ में 'कठोर' और 'शिथिल' वाली पद्धति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ संविधान विधान-मंडल (legislature) के ऊपर होते हैं—अर्थात् जिन्हें विधानमंडल द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता—और कुछ नहीं होते। इस वर्गीकरण में 'कठोर' श्रेणी का ही एक और उप-वर्गीकरण है। जिन सविधानों के संशोधन के लिए विशेष प्रक्रिया की जरूरत होती है, उनमें से कुछ ऐसे अलग किये जा सकते हैं जिनमें यह प्रक्रिया पूरी तरह विधानमंडल के अधिकार में नहीं होती। ये संविधान विधानमंडल से ऊपर होते हैं। इस अर्थ में सर्वोपरि संविधानों के कुछ उदाहरण अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैंड, आयरलैंड और डेनमार्क के संविधानों के हैं।

किन्तु हमेशा यह बताना आसान नहीं होता कि अमुक संविधान सर्वोपरि है या नहीं। बेलजियम का उदाहरण लीजिये। जब बेलजियम की संसद संविधान में किसी परिवर्त्तन का प्रस्ताव करती है तो दोनों विधान-सभाएँ भंग हो जाती हैं। आम चुनाव के बाद यदि दोनों सभाओं के कम-से-कम दो-तिहाई सदस्य उपस्थित हों और उपस्थित सदस्यों में से कम-से-कम दो-तिहाई प्रस्तावित संशोधन के पक्ष में मत दें तो वह संशोधन स्वीकृत हो जाता है। स्पष्ट ही यहाँ संशोधन होता विधानमंडल के द्वारा ही है। इस हद तक विधानमंडल की संविधान के ऊपर प्रधानता स्पष्ट है। पर दोनों मतदानों के बीच आम चुनाव की शर्त्त का अर्थ लगभग यही होता है कि संशोधन के लिए मतदाताओं का समर्थन होना चाहिए और इससे यह ध्वनि निकलती है कि व्यवहार में विधानमंडल के बजाय मत-दाताओं की ही विधान के ऊपर प्रधानता है। हर परिवर्त्तन के लिए जनता का सहमत होना आवश्यक है। इस तर्क के अनुसार यह लगता है कि बेलजियम को भी अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैंड, आयरलैंड और डेनमार्क आदि ऐसे देशों की श्रेणी में ही रखना चाहिए जिनका संविधान सर्वोपरि है। लगभग ऐसे ही कारणों से हॉलैंड, स्वीडन और नॉर्वे भी इसी श्रेणी में आयेंगे।

पर फिर सोवियत यूनियन या दक्षिणी अफ्रीका या फिनलैंड जैसे देशों के लिए क्या कहेंगे जिनमें संविधान का आंशिक अथवा पूर्ण संशोधन होता तो है

विधानमंडल के द्वारा ही, पर केवल विशेष बहुमत प्राप्त होने पर ही ? यहाँ स्पष्ट ही संशोधन विधानमंडल ही करता है और संविधान में किसी अन्य संस्था को अपनी राय जाहिर करने का अवसर देने की कोई शर्त्त नहीं है। ऐसी अवस्था में क्या विधानमंडल को संविधान से ऊपर न माना जाय ? इसका उत्तर यही होगा कि यदि विधानमंडल संविधान में निर्दिष्ट पद्धति अपनाने को बाध्य है और उसमें बतायी गयी बहुमत की संख्या की शर्त्त मानना जरूरी है, तो उस हद तक तो विधानमंडल संविधान के अधीन है ही और उस हद तक संविधान विधानमंडल के ऊपर है। इस प्रकार की शर्त्तों के बारे में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। उदाहरण के लिए दक्षिणी अफ्रीका के बहुत से विद्वानों का यह मत है कि सर्वथा कानून की दृष्टि से तो यूनियन का विधानमंडल संविधान की विशेष बहुमत-सम्बन्धी शर्त्तों को मानने को बाध्य नहीं है। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो संविधान सर्वोपरि नहीं है और तब दक्षिणी अफ्रीका को न्यूजीलैंड के साथ उन देशों की श्रेणी में रखना पड़ेगा जहाँ के संविधान सर्वोपरि नहीं हैं। जो भी हो, यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि ऐसी अवस्था में संविधान की सर्वोपरिता अथवा नियन्त्रक अधिकार का कोई विशेष अर्थ नहीं बचता।

संविधानों का वर्गीकरण इस आधार पर भी हो सकता है कि उनमें शासन के अधिकार समूचे देश की सरकार तथा विभिन्न भागों का शासन चलानेवाली स्थानीय सरकारों के बीच किस प्रकार से बाँटे गये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार संविधानों को 'संघीय' तथा 'एकात्मक' श्रेणियों में बाँटा जाता है। संघीय संविधान में शासन के अधिकार समूचे देश की सरकार और विभिन्न भागों की सरकारों के बीच इस प्रकार से बाँटे जाते हैं कि प्रत्येक भाग की सरकार अपने क्षेत्र में कानूनी दृष्टि से स्वतन्त्र होती है। समूचे देश की सरकार का अपना अलग अधिकार-क्षेत्र होता है और उन अधिकारों का उपयोग वह विभिन्न भागों के किसी भी नियन्त्रण के बिना ही करती है। इसी प्रकार विभिन्न भाग भी अपने अधिकारों का उपयोग केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप के बिना करते हैं। इस भाँति समूचे देश की सरकार का अधिकार भी सीमित होता है और विभिन्न राज्यों अथवा प्रान्तों की सरकारों का अधिकार भी। दोनों में से कोई किसी के अधीन नहीं होता; दोनों ही परस्पर सहयोगी होती हैं। इसके विपरीत एकात्मक संविधान

में समूचे देश के विधानमण्डल के कानून ही सर्वोपरि होते हैं। वह चाहे तो अन्य विधानमण्डलों को बनने और अपने अधिकारों का उपयोग करने की अनुमति दे सकता है, पर कानून के अनुसार केन्द्रीय विधानमण्डल को प्रत्यादेश करने का अधिकार होता है; अन्य विधानमण्डल उसके अधीन होते हैं।

संघीय सविधानों के उदाहरण के लिए अमरीका, स्विट्ज़रलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया का नाम लिया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक देश के संविधान में उन विषयों का अलग उल्लेख है जिनके बारे में समूचे देश के विधानमंडल को कानून बनाने का अधिकार है, और अलग-अलग राज्यों या प्रदेशों का अपना निश्चित क्षेत्र होता है जिसमें उनके अपने अपने विधानमंडल केन्द्रीय अथवा दूसरे राज्यों के विधानमंडलों से कानून के अनुसार स्वतंत्ररूप में कार्य करते हैं। कनाडा के संविधान का इस दृष्टि से वर्गीकरण अधिक कठिन है। उसके अनुसार सारे देश की एक स्वतन्त्र सरकार तो है पर वह उसे दस प्रान्तों की सरकारों के ऊपर नियन्त्रण के कुछ सीमित अधिकारों के उपयोग की अनुमति देता है। यद्यपि संविधान में ऐसे विषयों की सूची बना दी गयी है जिन पर प्रान्तीय सरकारों का एकान्त अधिकार है और जिन पर कनाडा की संसद कोई कानून नहीं बना सकती; किन्तु साथ ही संविधान में यह भी लिखा है कि कनाडा की सरकार प्रान्तीय विधेयकों को अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द कर दे या प्रान्तीय अधिनियमों को अस्वीकृत कर दे, और बीच-बीच में इस अधिकार का प्रयोग भी होता रहा है। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय न्यायाधीशों की नियुक्ति कनाडा की सरकार ही करती है और प्रान्तीय सरकारों के औपचारिक प्रधान, लेफ्टीनेंट गवर्नर ( उपराज्यपाल ) की नियुक्ति भी कनाडा की सरकार ही करती है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के परस्पर स्वाधीन और सहयोगी होने के सिद्धान्त की इन सीमाओं के कारण कनाडा के संविधान को सर्वथा संघीय नहीं माना जा सकता। उसे अर्धसंघीय कहा जा सकता है।

किन्तु यहाँ भी संविधान के कानून और शासन के व्यवहार की तुलना बड़ी दिलचस्प सिद्ध होगी। यद्यपि कनाडा की सरकार प्रान्तीय कानून निर्माण के ऊपर निषेधाधिकार का उपयोग करती रही है, तो भी उसका उपयोग बहुत ही कम हुआ है और उससे प्रान्तों की स्वाधीनता पर व्यवहार में कोई आघात नहीं

पहुँचा है। दूसरी ओर ऑस्ट्रेलिया में, जहाँ राज्यों की स्वाधीनता संविधान द्वारा अधिक कठोरतापूर्वक सुरक्षित है, ऑस्ट्रेलिया के समानतन्त्र (Common-wealth) की सरकार का राज्यों की सरकार के ऊपर नियन्त्रण इतना अधिक हो गया है कि कुछ विद्वानों के कथनानुसार ऑस्ट्रेलिया के राज्य व्यवहार में समानतन्त्र के प्रशासकीय अंगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यह नियन्त्रण मुख्यतः समानतन्त्र के बड़े आर्थिक साधनों के कारण है, और इस बात से प्रगट होता है कि अपने अधिकांश महत्वपूर्ण कार्यों के लिए राज्य समानतन्त्र के आर्थिक अनुदान पर अधिकाधिक निर्भर होते जाते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि कानून की दृष्टि से संघीय होते हुए भी व्यवहार में ऑस्ट्रलिया का संविधान ऐसा एकात्मक रूप ले लेता है जिसमें काफ़ी हद तक विकेन्द्रीकरण अथवा अधि-कार निदान (devolution of power) मौजूद है। इसके विपरीत कनाडा का संविधान कानून की दृष्टि में अर्धसंघीय होते हैं हुए भी व्यवहार में ऑस्ट्रेलिया के संविधान की अपेक्षा अधिक संघीय है।

अर्धसंघीय संविधानों की श्रेणी में १९५० का भारतीय संविधान, १९४९ का पश्चिमी जर्मनी के प्रजातन्त्र का संविधान, १९१८ से १९३३ तक का वाइमार जर्मन प्रजातन्त्र का संविधान और १९३६ का सोवियत यूनियन का संविधान भी रखा जा सकता है।

एकात्मक संविधानों की श्रेणी बड़ी है—इतनी बड़ी है कि यह कहना कठिन है कि वर्गीकरण के काम के लिए उसका कोई मूल्य भी है अथवा नहीं। उसमें न्यूज़ीलैण्ड, फ्रांस, स्वीडन, नॉर्वे और डेनमार्क जैसे देश भी शामिल हैं जिनमें केन्द्रीय विधानमण्डल के अधीन केवल स्थानीय शासन निकाय हैं जिनके अधिकारों पर काफ़ी कड़ा नियन्त्रण रहता है। साथ ही उसमें दक्षिणी अफ्रीका जैसे देश भी आ जाते हैं जहाँ संघ संसद के अधीन प्रान्तों की अलग-अलग परि-षदें स्थापित हैं जिन्हें संविधान में परिगणित विषयों पर अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। यहाँ विकेन्द्रीकरण अथवा अधिकार-विदान का क्षेत्र काफ़ी विस्तृत है। यह भी सम्भव है कि सोवियत यूनियन के संविधान को अपने आपको संघीय बताने और कानून की दृष्टि से अर्धसंघीय माने जाने के बावजूद, व्यवहार की दृष्टि से व्यापक विकेन्द्रीकरण वाले एकात्मक संविधानों की श्रेणी

में रखना चाहिये। किन्तु व्यवहार के अतिरिक्त भी १९३६ के संविधान ने सोवियत संघ की केन्द्रीय सरकार को इतने व्यापक अधिकार दे रखे हैं, और विभिन्न प्रजातन्त्रों के ऊपर केन्द्रीय सरकार को संविधान द्वारा प्राप्त नियन्त्रण, विशेषकर आर्थिक नियन्त्रण, इतना विस्तृत है कि संविधान के कानून की दृष्टि से भी उसका संघीय तत्व गौण हो जाता है।

इसलिए यद्यपि 'संघीय' और 'एकात्मक' संविधानों के अन्तर से यह फायदा तो है कि उससे हमें संघीय संविधानों को बाकी से अलग कर लेने में सहायता मिलती है, किन्तु तो भी उसकी उपयोगिता सीमित ही है। एकात्मक संविधानों की श्रेणी इतनी विस्तृत और विविध है, एकात्मक संविधानों में व्यवहार में विकेन्द्रीकरण की सीमा और पद्धति इतनी पृथकतापूर्ण है कि 'एकात्मक' कहे जानेवाले संविधान के बारे में जब तक बहुत कुछ और न जाना जाय तब तक उसका स्वरूप कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। इसके अलावा जो संविधान कानून की दृष्टि से संघीय अथवा एकात्मक होते हैं, उनके बारे में यह जानना बड़ा आवश्यक है कि उस कानून का व्यावहारिक रूप क्या है। कागज पर एकात्मक और अत्यन्त ही केन्द्रीकृत दिखाई पड़नेवाले संविधान का व्यवहार में लगभग संघीय होना सम्भव है। इसी प्रकार संघीय संविधान व्यवहार में एकात्मक हो सकता है, जैसे कि वास्तव में मेक्सिको, वेनेज़्वेला, ब्राज़ील और अर्जेन्टाइना के सविधान हैं।

यह तो आवश्यक ही है कि जो संविधान संघीय होते हैं वे सर्वोपरि भी हों और ब्राइस के मूल अर्थ में 'कठोर' भी। संघीय संविधान में समूचे देश और उसके विभिन्न भाग, दोनों के विधानमण्डलों के अधिकार सीमित होते हैं और वे परस्पर स्वाधीन भी होते हैं। इसलिए कम-से-कम जहाँ तक उनके बीच अधिकार के परस्पर विभाजन का प्रश्न है वहाँ तक उनमें से कोई भी अकेला संविधान में परिवर्त्तन नहीं कर सकता। उन दोनों में से कोई भी एक दूसरे के अधीन नहीं होता, इसलिए उन सबका संविधान के अधीन होना जरूरी है। उदाहरण के लिए अमरीका की काँग्रेस अपनी इच्छानुसार संविधान में परिवर्तन कर सकती तो वह राज्यों के अधिकार कम करके अपने बढ़ा लेती। उस हद तक राज्य काँग्रेस के अधीन होते और संविधान संघीय नहीं, एकात्मक होता। इसी प्रकार काँग्रेस को भी राज्यों के अधीन नहीं होना चाहिये। देश के तमाम विधान-

मण्डलों के ऊपर संविधान की सर्वोपरिता और संविधान की कठोरता संघीय संविधान की बुनियादी विशेषताएँ हैं और वे संघात्मकता के सिद्धान्त की अनिवार्य उपज हैं।

कभी-कभी यह कल्पना की जाती है कि संघीय संविधान यदि सर्वोपरि और कठोर होता है तो एकात्मक संविधान सर्वोपरि और कठोर नहीं हो सकता। इस विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है जिससे प्रकट है कि ऐसी बात नहीं है। संविधान को सर्वोपरि कहने से देश के विधानमंडल के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट होता है और यह स्पष्ट होता है कि विधानमंडल का संविधान को बदलने का अधिकार या तो सीमित है या है ही नहीं। पर किसी संविधान को एकात्मक कहने का अर्थ उसका विधानमंडल के साथ सम्बन्ध प्रकट करना नहीं बल्कि विधानमंडल का देश की अन्य कानून बनानेवाली संस्थाओं के साथ सम्बन्ध प्रकट करना है। उसका अभिप्राय यही है कि समूचे देश का विधानमंडल किसी अन्य विधान-निर्मात्री संस्था से श्रेष्ठ है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। न्यूज़ीलैंड और आयरलैंड दोनों ही एकात्मक राज्य हैं। दोनों ही देशों में देश की संसद देश की अन्य कानून बनानेवाली संस्थाओं के ऊपर है। परन्तु न्यूज़ीलैंड का संविधान न तो सर्वोपरि है, न कठोर; न्यूजीलैंड की संसद उसमें साधारण कानून बनाने की पद्धति से ही चाहे जब परिवर्त्तन कर सकती है। दूसरी ओर आयरलैंड का संविधान सर्वोपरि भी है और कठोर भी। उदाहरण के लिए उसने तलाक सम्बन्धी कानून बनाने का निषेध करके विधानमंडल के अधिकार को सीमित कर रक्खा है, और इसमें एक विशेष परिस्थिति में ही परिवर्त्तन किया जा सकता है जिसके लिए जनता का मत लेना आवश्यक है। वास्तव में अधिकांश एकात्मक राज्यों के संविधान सर्वोपरि और कठोर होते हैं और इस दृष्टि से वे संघीय राज्यों से भिन्न नहीं होते। आजकल अधिकांश देशों ने अपने संविधान सर्वोपरि और कठोर ही बना रखे हैं।

संघीय और एकात्मक विधानों के अन्तर की इस चर्चा को समाप्त करने के पहले इन दोनों से सम्बन्धित एक और प्रकार के संविधानों का उल्लेख उचित होगा। यह कहा जा चुका है कि अगर किसी देश में समूचे देश की सरकार और उसके अन्तर्गत क्षेत्रों की सरकारें परस्पर अधीन न होकर एक दूसरे की

समकक्षी हों तो उस देश का संविधान संघीय होता है, और यदि अन्तर्गत क्षेत्रों की सरकारें समूचे देश की सरकार के अधीन हों तो उस देश का संविधान एकात्मक होता है। पर इनके अलावा एक तीसरी सम्भावना और है। मान लीजिये कि समूचे देश की सरकार क्षेत्रीय सरकारों के अधीन हो तो फिर वहाँ कैसा संविधान होगा ? साधारणतः ऐसे संविधान को 'महासंघ' अथवा महासंघीय संविधान कहा जाता है। पर ये शब्द बहुत सुविधाजनक नहीं हैं। इन शब्दों को प्रायः 'संघ' अथवा 'संघीय' शब्दों के ही अर्थ में व्यवहार किया जाता है। इस भाँति स्विट्ज़रलैंड का संविधान संघीय होने पर भी अपने आप को 'स्विस महासंघ का संघीय संविधान' कहता है। दूसरी ओर कनाडा के संविधान का झुकाव एकात्मक प्रणाली की सरकार की ओर होते हुए भी, वहाँ विभिन्न प्रान्तों के संघ को 'महासंघ' कहा जाता है।

इन कठिनाइयों के बावजूद 'महासंघ' शब्द को सरकारों के परस्पर सहयोग के ऐसे रूप के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिसमें वे सामान्य हितों की बातों के संचालन के लिए एक सामान्य संगठन स्थापित तो कर लेती हैं, पर किसी-न-किसी हद तक इस सामान्य संगठन के ऊपर अपना नियन्त्रण भी कायम रखती हैं। इस सामान्य संगठन के पास प्रायः इतने कम अधिकार होते हैं कि उसे सरकार कहा जाय या नहीं यह भी संदेहास्पद होता है; और ऐसी परिस्थिति में यह बात भी संदिग्ध ही रहती है कि इस सामान्य संगठन की स्थापना करने वाले दस्तावेज को 'संविधान' कहा जाय या नहीं—शायद उसे समझौता, प्रतिज्ञापत्र अथवा संधि कहना अधिक उचित हो।

पिछले जमाने में महासंघीय संविधान के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। १७८९ में अमरीका का मौजूदा संघीय संविधान लागू होने के पहले अमरीका के विभिन्न राज्य अपने सामान्य मामलों को कुछ महासंघीय धाराओं के अनुसार तय करते थे। इन धाराओं की एक प्रमुख विशेषता **फेडरेलिस्ट** में (अलेक्जैन्डर हेमिल्टन नामक लेखक के कथनानुसार) यह थी कि, "महासंघ के अन्तर्गत संघ की प्रत्येक महत्वपूर्ण कारवाई को पूरी तरह लागू करने के लिए तेरह विभिन्न स्वाधीन रायों का एकमत होना आवश्यक था।" संयुक्त नेदरलैंड्स में १५७९ से ही एक महासंघीय संविधान लागू था। जर्मनी के विभिन्न संविधान—

१८१५ से १८६७ तक का संविधान, १८६७-१८७१ का उत्तरी जर्मन महासंघ, और १८७१ से १९१८ तक का जर्मन सामाज्य का संविधान—सब किसी-न-किसी मात्रा में महासंघीय थे। १८६७ से १९१८ तक चलने वाला ऑस्ट्रिया और हंगरी का करार भी महासंघीय सिद्धान्त पर आधारित था। बाद के युग में यूरोपीय परिषद् संविधि (Statute of the Council of Europe) को भी महासंघीय संविधान का उदाहरण माना जा सकता है; परन्तु यह संदिग्ध है कि उसमें सामान्य संगठन को इतने पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे कि 'संविधान' शब्द का प्रयोग किया जा सके। उसे वास्तव में राष्ट्रसंघ (League of Nations) के प्रतिज्ञापत्र अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) के अधिकारपत्र की श्रेणी में रखना अधिक उपयुक्त है, जिन्हें उचित ही संविधान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे अपने अंगभूत सदस्यों के लिए कोई सामान्य सरकार की स्थापना नहीं, बल्कि एक सामान्य संगठन की स्थापना करते हैं।

सविधानों का संघीय, एकात्मक तथा महासंघीय रूप मे वर्गीकरण इस सिद्धान्त पर आधारित है कि उसमें समूचे देश की सरकार और उसके अगभूत क्षेत्रों के लिए स्थापित होने वाली सरकारों के बीच शासन-अधिकार का परस्पर विभाजन किस प्रकार का है। परन्तु संविधानों का वर्गीकरण इस आधार पर भी किया जा सकता है कि सरकार के विभिन्न अंगों और उसके अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं के बीच परस्पर अधिकार का विभाजन किस रीति से किया गया है, फिर वह सरकार चाहे समूचे देश के लिए हो, चाहे किसी एक प्रदेश की। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ संविधान तो ऐसे होते हैं जिनमें न्यूनाधिक मात्रा में अधिकारों का वियोजन होता है, और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें यह वियोजन नहीं होता अथवा, दूसरे शब्दों में कहें तो, एक वे जो राष्ट्रपतीय कार्यकारिणी की स्थापना करते हैं, और दूसरे वे जो संसदीय कार्यकारिणी की। इनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कुछ शब्द कहना आवश्यक है।

अधिकारों के वियोजन के सिद्धान्त को सरलतम और चरम रूप में रखा जाय तो उसका अर्थ होता है कि शासन की प्रत्येक प्रक्रिया—जैसे विधान-निर्माण-सम्बन्धी, कार्यकारिणी अथवा प्रशासन-सम्बन्धी, और न्याय-सम्बन्धी—सरकार की अलग-अलग संस्थाओं के हाथों में एकान्त रूप से सौंप दी जाय। उसमें एक

व्यक्ति के ऊपर एक ही कार्य हो सकता है। इस चरम रूप में अधिकार का वियोजन शायद ही कभी सम्भव हो सका हो। पर ऐसे संविधान मिल जायेंगे जिनमें यह स्थिति शासन-प्रणाली की महत्वपूर्ण बल्कि प्रमुख विशेषता हो, या फिर ऐसे संविधान भी मौजूद हैं जिनमें इस स्थिति का विरोध ही उस शासन-प्रणाली की महत्वपूर्ण अथवा प्रमुख विशेषता है। संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान अधिकार-वियोजन के सिद्धान्त का प्रमुख उदाहरण माना जाता है। वास्तव में उसमें बहुत हद तक यह विशेषता पायी जाती है। उस संविधान में यह स्पष्ट लिखा है कि "इस संविधान द्वारा प्रदान किये गये विधान निर्माण-सम्बन्धी समस्त अधिकार संयुक्त राज्य की काँग्रेस को प्राप्त होंगे", "कार्यकारी अधिकार अमरीका के संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति को प्राप्त होंगे", और "संयुक्त राज्य के न्याय-सम्बन्धी अधिकार एक सर्वोच्च न्यायालय को तथा उन तमाम निचली अदालतों को प्राप्त होंगे जिन्हें काँग्रेस समय-समय पर स्थापित करेगी।" इस भाँति यह जान पड़ता है कि शासन-सम्बन्धी कार्य तीन संस्थाओं के हाथ में एकान्त रूप से सौंप दिये गये हैं। इसके अलावा संविधान में इन तीनों संस्थाओं को एक दूसरे से पृथक भी कर दिया गया है। राष्ट्रपति को काँग्रेस में शामिल होने की आज्ञा नहीं है और न संयुक्त राज्य के किसी अन्य पदाधिकारी को ही। इस भाँति उपर्युक्त तीन संस्थाओं के बीच एक व्यक्ति के ऊपर एक ही प्रकार का कार्य सम्भव है।

अमरीकी संविधान में शासन के तीन कार्यों के बीच इस अन्तर और पृथक संस्थाओं के ऊपर उनके भार के कारण ही उस संविधान को अधिकार-वियोजन वाले वर्ग में रखा जाता है। इसके अलावा संस्थाओं की पृथकता के कारण कार्यकारिणी के प्रधान, राष्ट्रपति तथा उनके अधीन पदाधिकारी काँग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते, इसलिए इस संविधान को राष्ट्रपतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी स्थापित करनेवाला संविधान कहा जाता है।

ये तमाम निष्कर्ष मूलतः सही हैं, पर उनमें एक शर्त्त लगाना जरूरी है। यह सही है कि अमरीकी संविधान में तीनों संस्थाओं को—काँग्रेस, राष्ट्रपति (तथा उसके पदाधिकारी) और न्याय-व्यवस्था को—अलग कर दिया गया है और इस बात का निषेध कर दिया गया है कि एक के पदाधिकारी को दूसरी का
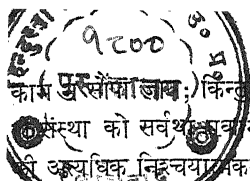
काम [illegible] सौंपा जाय; किन्तु उसमें भी इन तीन अलग-अलग कार्यों को किसी एक संस्था को सर्वथा एकान्त भाव से नहीं सौंपा गया है। ऊपर उद्धृत शब्दों की अत्यधिक निश्चयात्मकता के बावजूद संविधान ने कुछ शर्तें लगा ही रखी हैं। इस भाँति, विधान-निर्माण-सम्बन्धी तमाम अधिकार काँग्रेस के हाथ में होने पर भी, राष्ट्रपति काँग्रेस के निर्णयों को अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द कर सकता है और उसके निषेधाधिकार का उल्लंघन दोनों विधान-सभाओं में दो-तिहाई बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है। इसी भाँति कार्यकारी क्षमता राष्ट्रपति के हाथों में होते हुए भी सन्धियाँ करने के लिए तथा महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करने के लिए, जिसमें उसके अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों की नियुक्तियाँ भी शामिल हैं, उसे सिनेट के दो-तिहाई बहुमत का समर्थन जरूरी होता है। इस भाँति ही न्याय-सम्बन्धी अधिकार सर्वोच्च न्यायालय और छोटी अदालतों के हाथ में होते हुए भी अभियोगों पर विचार करने का अधिकार सिनेट को भी है। इसमें राष्ट्रपति पर लगाये गये अभियोगों पर विचार करना भी शामिल है, यद्यपि राष्ट्रपति के मुकदमे पर विचार करते समय संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश ही सिनेट का अध्यक्ष होता है। इन कुछेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य में भी शासन के कार्यों का संपूर्ण वियोजन नहीं है; बल्कि अत्यंत विचारपूर्वक परस्पर वियोजित संस्थाओं का कार्य परस्पर जोड़ दिया गया है। किन्तु ये संस्थाएँ स्वयं अधिक कठोरता के साथ पृथक कर दी गयी हैं; और अधिकार वियोजन का यह पक्ष ही अमरीकी संविधान को कुछ दूसरे संविधानों से स्पष्टतः अलग करता है।

यदि हम आयरलैंड, भारतवर्ष, दक्षिणी अफ्रीका अथवा ऑस्ट्रेलिया के संविधान पर नजर डालें, जिनमें कार्यकारिणी के प्रधानों तथा मंत्रियों का संसद का सदस्य होना आवश्यक है, तो यह अन्तर एकदम स्पष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में ये संविधान संसदीय कार्यकारिणी की स्थापना करते हैं। इस शासन-प्रणाली को प्रायः मंत्रि-शासन (cabinet government) कहते हैं जिससे ब्रिटेन, राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्य-देशों तथा पश्चिमी यूरोप के देशों के निवासी परिचित ही हैं। किन्तु इस बात पर जोर देना जरूरी है कि एक ओर राष्ट्रपतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी जहाँ भी पायी जाती है, वहाँ वह संविधान में ही प्रतिष्ठित होती है; दूसरी ओर संसदीय कार्यकारिणी का निर्देश अथवा वर्णन

वास्तविक संविधान में सदा नहीं होता बल्कि वह अन्य कानूनी नियमों पर तथा उनसे भी अधिक लोकरूढ़ियों तथा परिपाटियों पर निर्भर होता है।

साथ ही इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि सरकार के कार्यों का वियोजन केवल वहीं नहीं होता जहाँ राष्ट्रपतीय कार्यकारिणी पायी जाती हो। यह भी बहुत संभव है कि किसी सविधान में विधान निर्माण सम्बन्धी सारे अधिकार संसदको ही सौंप दिये गये हों और उनको किसी अन्य संस्था के सुपुर्द किये जाने का निषेध कर दिया गया हो, और साथ यह भी नियम बना दिया गया हो कि मंत्रियों का संसद-सदस्य होना आवश्यक है। वास्तव में चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान में, जिसमें संसदीय कार्यकारिणी का स्पष्ट निर्देश तो नहीं है पर उसकी सम्भावना निहित है, धारा ११ में कहा गया है, "केवल राष्ट्रीय विधान-सभा को ही क़ानून बनाने का अधिकार होगा। यह अधिकार वह किसी और को न सौंप सकेगी।" संस्थाओं के परस्पर जोड़ जाने और कार्यों के अलग-अलग करने में कोई परस्पर विरोध नहीं है। यह सही है कि ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं पर इनका अन्तर स्वीकार करना आवश्यक है।

साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि जिन देशों में अधिकार-वियोजन का सिद्धान्त साधारणतः स्वीकृत नहीं है—जहाँ कार्यकारिणी को कानून बनाने का अबाध अधिकार है और कार्यकारिणी के प्रधान संसद के सदस्य भी होते हैं—वहाँ भी न्याय-व्यवस्था में तो बहुत हद तक अधिकार का वियोजन होता ही है। बल्कि उन तमाम देशों में जहाँ संविधान संसदीय कार्यकारिणी की तथा कार्यों और संस्थाओं के एकीकरण या सम्बद्धीकरण की स्थापना करता है अथवा उसकी अनुमति देता है, वहाँ वह काफी हद तक न्याय-व्यवस्था के वियोजन और उसकी स्वाधीनता की भी स्थापना करता है। यह सही है कि ऐसे बहुत से देशों में न्याय-सम्बन्धी कार्य भी कभी-कभी कार्यकारिणी को सौंप दिये जाते हैं, न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यकारिणी के हाथ में होती है, और दोनों विधान-सभाओं के आदेश पर न्यायाधीशों को पदच्युत किया जा सकता है। पर ऐसे देशों में भी न्याय-व्यवस्था की स्वाधीनता और उसके अलग अस्तित्व को उतनी ही दृढ़ता के साथ माना जाता है जितना कार्यकारिणी और विधान-सभाओं के आन्तरिक सम्बन्ध को।

राष्ट्रपतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी का तथा संसदीय कार्यकारिणी का निर्देश करनेवाले संविधानों में भेद करते समय यह आवश्यक है कि इस अन्तर को बहुत उग्र रूप में न रखा जाय। इस अन्तर का यह अर्थ नहीं है कि अमरीका में तो राष्ट्रपति और उसके अधीनस्थ कर्मचारी काँग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते, परन्तु संसदीय कार्यकारिणी वाले देश में प्रधानमन्त्री तथा कार्यकारिणी के तमाम अन्य सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। ऐसा बिल्कुल नहीं होता। जिस देश में संसदीय कार्यकारिणी होती है वहाँ भी कार्यकारिणी के अधिकांश सदस्य—नागरिक कर्मचारी तथा पदाधिकारी—संसद से बाहर ही होते हैं। वहाँ भी केवल विभागीय प्रधान, अर्थात् मन्त्रियों का ही संसद का सदस्य होना आवश्यक होता है। वास्तव में संसदीय कार्यकारिणी की पद्धति में भी नीचे से ऊपर की ओर संस्थाओं का वैसा ही कठोर पृथक्करण है जैसा राष्ट्रपतीय कार्यकारिणी की पद्धति में, किन्तु सर्वोच्च स्तर पर पहुँच कर भिन्नता होने लगती है। यह भिन्नता बहुत महत्वपूर्ण है, पर इसका स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये। अमरीकी संविधान के इस नियम में कि 'संयुक्त राज्य का कोई पदाधिकारी अपनी पदारूढ़ता के काल में किसी विधान-सभा का सदस्य न हो सकेगा' जो सिद्धान्त निहित है, वह संसदीय कार्यकारिणी वाले सभी देशों में भी कानून का अंग है, बस, केवल मन्त्रियों के विषय में वहाँ यह नियम लागू नहीं होता। इस अपवाद से बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर है यह अपवाद ही।

शासन की अधिकांश प्रणालियाँ संसदीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी वाली श्रेणियों में से किसी-न-किसी के अन्तर्गत अवश्य आ जाती हैं। साधारणतः जिस देश में अ-संसदीय कार्यकारिणी होती है उसमें शासन की यह प्रणाली संविधान में ही स्पष्टतया निर्दिष्ट रहती है। जहाँ संसदीय कार्यकारिणी होती है वहाँ या तो वह न्यूनाधिक मात्रा में संविधान में ही निर्दिष्ट होती है, जैसे आयरलैण्ड, भारतवर्ष, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में, या फिर साधारण कानून और व्यवहार द्वारा स्वीकृत, सम्मत और काफी हद तक नियन्त्रित होती है, जैसे न्यूज़ीलैण्ड में, या कनाडा, हॉलैण्ड और बेल्जियम में, या स्कैन्डीनेविया के राजतन्त्रों में। कुछ बीच के उदाहरण भी हैं, जैसे फ्रांस, जहाँ चौथे प्रजातन्त्र के संविधान में यद्यपि यह कहा गया है कि मन्त्रिगण राष्ट्रीय विधान-सभा के आगे उत्तरदायी होंगे जो चाहे तो

उन्हें वर्खास्त भी कर सकती है, किन्तु तो भी उसमें कोई ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि प्रधानमन्त्री तथा अन्य किसी मन्त्री को संसद का सदस्य होना ही होगा। यह मान लिया गया है कि अधिकांश मन्त्री संसद के सदस्य होंगे ही, पर यह कोई अनिवार्य शर्त्त नहीं है।

राष्ट्रपतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी मुख्यतया उन्हीं देशों में पायी जाती है जिनके संविधान या तो अमरीकी संविधान पर आधारित हैं या उससे बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। कनाडा को छोड़कर वह उत्तरी, दक्षिणी और मध्य अमरीका के तमाम देशों में पायी जाती है। फिलिपाइन प्रजातन्त्र और लाइबेरिया में भी राष्ट्रपतीय कार्यकारिणी ही पायी जाती है।

ऐसे संविधान का महत्वपूर्ण उदाहरण जो इन दोनों में से किसी श्रेणी में ठीक-ठीक नहीं आता, स्विट्ज़रलैंड का है। स्विट्ज़रलैंड में कार्यकारिणी—संघीय परिषद्—आम चुनाव के बाद संसद की दोनों सभाओं की सम्मिलित बैठक में निर्वाचित होती है, और उसकी रचना में संसद में पार्टियों की स्थिति प्रतिलक्षित होती है। उसके सदस्य चार वर्ष की निश्चित अवधि तक पदासीन रहते हैं—यही अवधि संसद की निचली सभा की भी है। पर संघीय परिषद् के सदस्यों का, उस पद पर रहने के काल में, संसद का सदस्य होना आवश्यक नहीं है, यद्यपि उन्हें किसी भी सभा में बैठने और बोलने का अधिकार प्राप्त है। जिस हद तक संघीय परिषद् की संसद में मतामत के परिवर्तन से स्वतन्त्र एक अवधि निश्चित है, और उसके सदस्यों पर संसद का सदस्य होने की पाबन्दी नहीं है, उस हद तक स्विट्ज़रलैंड की कार्यकारिणी राष्ट्रपतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी के अनुरूप है। परन्तु क्योंकि उसका चुनाव आम निर्वाचन के बाद संसद में विभिन्न पार्टियों के सदस्यों की संख्या के अनुसार संसद द्वारा ही होता है, और क्योंकि उसके सदस्य साधारणतः संसद में बैठते और उसकी बहस में भाग लेते हैं, इसलिए संसदीय कार्यकारिणी से भी उसमें समानता है। यह दोनों प्रणालियों का एक दिलचस्प और सफल सम्मिश्रण है।

अन्त में संविधानों के वर्गीकरण की एक और पद्धति पर भी नजर डालना आवश्यक है, जिसे किसी समय बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता था, अर्थात् प्रजातन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक संविधानों के रूप में वर्गीकरण। आजकल इस वर्गी-

करण का महत्व कम हो गया है। इस बात का आज इससे अधिक महत्व नहीं है कि जिस राज्य का प्रधान राष्ट्रपति होता है वह प्रजातन्त्र होता है और जिस राज्य का प्रधान राजा होता है वह राजतन्त्र या राजशाही कहलाता है। परन्तु वास्तव में प्रजातन्त्रात्मक संविधानों में राष्ट्रपति की स्थिति और अधिकारों में, और राजतन्त्रात्मक संविधानों में राजा के अधिकारों में इतनी विविधता हो सकती है कि इस वर्गीकरण के द्वारा परस्पर ऐसे भिन्न राजा एक ही वर्ग में इकट्ठे हो जाते हैं जिनमें नाममात्र से अधिक समानता नहीं होती। इस भाँति प्रजातन्त्रों की श्रेणी में संयुक्त राज्य, सोवियत यूनियन, स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस, पुर्तगाल, मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के तमाम राज्य, फिनलैंड, भारतवर्ष और आयरलैंड आदि सभी शामिल हैं। संयुक्त राज्य में राष्ट्रपति न केवल राज्य का प्रधान है, वह सरकार का भी प्रधान होता है; परन्तु उसके अधिकार संविधान द्वारा नियन्त्रित कर दिये गये हैं। दक्षिणी और मध्य अमरीका के देशों में भी कानून द्वारा राष्ट्रपति को वही स्थान दिया गया है, पर बहुत जगह व्यवहार में वह जितने अधिकार का उपयोग करता है उसका संविधान से सम्बन्ध नहीं के बराबर है। सोवियत यूनियन, भारतवर्ष, फ्रांस, आयरलैंड, पुर्तगाल और स्विट्ज़रलैंड में राष्ट्रपति राज्य का तो प्रधान होता है पर शासन का नहीं, और प्रत्येक स्थान पर उसकी स्थिति में बड़े महत्वपूर्ण अन्तर हैं।

ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्य, स्कैण्डीनेवियन देशों अथवा हॉलैंड और बेल्जियम जैसे आधुनिक राजतन्त्रात्मक देशों पर विचार करने से हमें पता चलता है कि इन देशों में राजा, और फ्रांस, भारतवर्ष, आयरलैंड स्विट्ज़रलैंड, बल्कि सोवियत यूनियन के राष्ट्रपति के बीच जितनी समानता है उतनी इन देशों के राष्ट्रपति और अमरीकी प्रजातन्त्रों के राष्ट्रपति के बीच नहीं है। आजकल प्रजातन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक श्रेणियों में संविधानों का वर्गीकरण करने से ऐसे परस्पर भिन्न समूह बनने लगते हैं कि उससे संविधानों के बीच समानता के बजाय उनके भेद पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। इस वर्गीकरण की प्रमुख उपादेयता इस तथ्य पर प्रकाश डालने में है कि राजतन्त्र के प्रतीक स्वाधीन शासन के विरोधी नहीं हैं और यह भी सम्भव है कि प्रजातन्त्र के प्रतीक निरंकुश शासन को न रोक सकें।

किसी समय प्रजातन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक संविधान के बीच भेद का बड़ा

भारी अर्थ और महत्व था। वह लोकप्रिय और जनतन्त्रात्मक शासन तथा स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन अथवा तानाशाही के बीच अन्तर का प्रतीक था। राजा, जैसा कि उसके नाम से ही प्रगट है, एकमात्र शासक हुआ करता था; वह केवल अपने आगे उत्तरदायी होता था। आज इस 'स्वेच्छाचारी राजतन्त्र' का उदाहरण खोजना कठिन है—मिस्र, एथियोपिया और ईरान के राजाओं को भी स्वेच्छाचारी एकच्छत्र शासक मानना सम्भव नहीं। स्वेच्छाचारी राजतन्त्रों के वैधानिक अथवा सीमित राजतन्त्रों का रूप धारण करने से यह स्थिति पैदा हो गयी है कि आज जहाँ भी राजतन्त्र मौजूद है वहाँ—कुछेक सम्भाव्य अपवादों को छोड़कर—संविधान में जनतन्त्रात्मक अथवा लोकप्रिय शासन की व्यवस्था है। आधुनिक राजतन्त्र ने बहुत कुछ वह रूप ले लिया है जो कभी प्रजातन्त्र के लिए सोचा गया या; दूसरी ओर प्रजातन्त्रात्मक संविधानों में, जनतन्त्र से लगाकर तानाशाही तक, सब प्रकार की शासन-प्रणाली के उदाहरण मिलते हैं।

किन्तु यह मानना गलत होगा कि आधुनिक वैधानिक राजतन्त्र 'मुकुटधारी प्रजातन्त्र' से अधिक कुछ नहीं है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों में, अथवा स्कैण्डीनेवियन राज्यों में या बेल्जियम, हॉलैंड इत्यादि में, राजपद वह संस्था है जिसके पीछे ऐसी प्रतीकात्मकता, ऐसी राजनीतिक तथा सामाजिक विशिष्टता और ऐसा राष्ट्रीय स्वरूप है जो किसी राष्ट्रपति-पद को प्राप्त नहीं है। राजतन्त्र में जो गुण दिखाई पड़ते हैं तथा जो आशंकाएँ उसमें सन्निहित हैं, उनसे उसे केवल संविधान और शासन का ही नहीं, बल्कि समाज और जाति का भी विशिष्ट रूप प्राप्त होता है। इन बातों को गिनाना आसान नहीं है, किन्तु यदि संविधानों के राजतन्त्र और प्रजातन्त्र रूप में वर्गीकरण को ठीक-ठीक समझना है तो इन बातों को समझना और स्वीकार करना आवश्यक है।

यह देखा जा चुका है कि संविधानों के वर्गीकरण की कुछ पद्धतियाँ बड़ी महत्वपूर्ण विभिन्नताओं को प्रगट करती हैं और यह शंका की जा सकती है कि ऐसे वर्गीकरण की कुछ उपयोगिता भी है अथवा नहीं। यह बात तो तुरन्त स्वीकार कर लेनी चाहिये कि संविधानों के वर्गीकरण की बड़ी सीमित उपादेयता ही है; क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है, स्वयं संविधान नियमों के उस समुच्चय का एक अंशभर है जिन सबको मिलाकर शासन-प्रणाली निर्धारित होती है, और शासन-

प्रणाली के वास्तविक व्यवहार के अध्ययन से संविधान को किसी भी श्रेणी में रखना या न रखना एकदम अवास्तविक अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है। दूसरी ओर यदि किसी संविधान को विशेषरूप से वर्गीकरण के सभी सम्भव उपायों से जोड़कर देखा जाय तो वर्गीकरण के प्रयत्न की कुछ उपादेयता अवश्य हो सकती है, चाहे फिर वह सीमित उपादेयता ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि संयुक्त राज्य का संविधान लिखित है, कठोर है, सर्वोपरि है, संघीय है, राष्ट्र-पतीय अथवा अ-संसदीय कार्यकारिणी की स्थापना करता है और प्रजातन्त्रवादी है—तो हमें अवश्य कुछ उपयोगी ज्ञान प्राप्त होता है। इसी भाँति जब हम यह कहते हैं कि ऑस्ट्रेलिया का संविधान लिखित, कठोर, सर्वोपरि और संघीय होने के कारण अमरीकी संविधान के समान होते हुए भी संसदीय कार्यकारिणी की स्थापना करता है और प्रजातन्त्रात्मक नहीं, राजतन्त्रात्मक है और इसलिए अमरीकी संवि-धान से भिन्न है—तो हम निस्संदेह कुछ महत्व की बात पर ही जोर देते हैं। ऐसी ही महत्वपूर्ण बात पर जोर हमारे इस कथन में भी है कि एक ओर जहाँ आयरलैंड और न्यूज़ीलैंड के संविधानों में इस बात में समानता है कि दोनों ही लिखित हैं, एकात्मक हैं और दोनों संसदीय कार्यकारिणी की स्थापना करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे इस बात में भिन्न हैं कि आयरलैंड का संविधान कठोर और सर्वोपरि है जब कि न्यूज़ीलैंड का संविधान शिथिल और विधानमण्डल के अधीन है, अथवा आयरलैंड का संविधान राजतन्त्रात्मक। और अन्त में चाहे किसी संविधान के वर्गीकरण के प्रयत्न से यही प्रगट हो कि उस संविधान के लिए वर्गीकरण के सारे आधार अप-र्याप्त और अवास्तविक हैं, तो भी जिस प्रक्रिया द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उससे हमें उस संविधान की विशेषता के बारे में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही उससे हमें यह भी पता चलता है कि वह संविधान जिस शासन-प्रणाली का एक अंग है उसमें उसका स्थान क्या है, तथा किसी देश में सरकार को नियन्त्रित करने वाले कानूनी और अ-कानूनी नियमों के समुच्चय में कितना अंश सजीव है और कितना मृत हो चुका है।

---

## ३ : संविधान में क्या होना चाहिये

अलग-अलग देशों के संविधानों पर एक नजर डालते ही तुरन्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इस बात पर लोगों में बड़ा मतभेद है कि संविधान में क्या-क्या होना जरूरी है। नॉर्वे के निवासी जो कुछ कहना चाहते थे वह उन्होंने लगभग पच्चीस पृष्ठों में ही कह डाला; भारतवर्ष के १९५० के संविधान में लगभग ढाई सौ पृष्ठ हैं। मोटे तौर पर इस सम्बन्ध में दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं : एक ओर तो वे लोग हैं जो संविधान को मुख्यतः और लगभग एकान्त रूप से कानूनी दस्तावेज मानते हैं जिसमें, इसीलिए, कानूनी नियमों के लिए तो स्थान है पर और किसी दूसरी चीज के लिए नहीं। दूसरी ओर वे लोग हैं जो संविधान को एक प्रकार का घोषणापत्र, अपने विश्वासों की स्वीकृति, आदर्शों का वक्तव्य, अथवा मि० पॉदस्नैप के शब्दों में, "देश का अधिकारपत्र" मानते हैं।

जिन संविधानों का मसविदा ब्रिटेन में अथवा ब्रिटेन के कानूनी सिद्धान्तों के प्रभाव से बना है वे लगभग सभी पहली श्रेणी में आते हैं। उनकी प्रस्तावना में भले ही थोड़े-बहुत उद्‌गार मौजूद हों, पर अधिकांशतः उनमें कानूनी नियमों के अलावा और कुछ नहीं होता। हॉलैंड, बेल्जियम और स्कैण्डीनेवियन देशों के संविधान इसकी अपेक्षा कुछ कम कठोर हैं; इसी प्रकार संयुक्त राज्य के संविधान में भी बीच-बीच में राजनीतिक सिद्धान्तों की चर्चा आती है। किन्तु बाकी अधिकांश संविधानों में—और इसमें कुछ अमरीकी संघ के सदस्य-राज्यों के संविधान

ों शामिल हैं—ऐसी सामग्री पायी जाती है जो या तो स्वभाव से ही विशुद्ध संवैधानिक नहीं है, और यदि है भी तो वह वास्तव में कानून अथवा किसी कानूनी नियम का ग्रहणक्षम ( susceptible ) रूप नहीं है। संविधान में स्वभाव से ही वैधानिक सामग्री शामिल करने का एक उदाहरण स्विट्ज़रलैंड के संविधान में १८९३ में जोड़ी गयी धारा २५ में है जिसके अनुसार कसाईखाने में पशुओं को पहले अचेत किये बिना काटने की मनाही कर दी गयी है। दूसरी ओर बहुत से आधुनिक संविधानों में नागरिकों के अधिकारों की अथवा राजनीतिक उद्देश्यों की अथवा सरकार के साधनों और अभिप्रायों की भी घोषणा रहती है। इन सब बातों के संविधान सम्बन्धी प्रश्नों के अध्ययन में कमोवेश सहायक होते हुए भी, उन्हें कानूनी नियम का रूप नहीं दिया जाता और प्रायः उन्हें ऐसा रूप देना सम्भव ही नहीं होता।

संविधान बनाने वालों को इस बात पर एकमत कराना आसान नहीं है कि कौन-सा रास्ता सबसे अच्छा है। १९०९ में जब दक्षिणी अफ्रीका का संविधान बनाया गया तो मसविदा बनाने वाले ने अपने नीरस ढंग से कहा कि संविधान का सबसे उत्तम प्रारम्भ यह होगा : "इस अधिनियम को दक्षिणी अफ्रीका का अधिनियम, १९०९, कहा जाय।" इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रारम्भ संक्षिप्त और प्रसंगानुकूल है, संविधान में कहीं-न-कहीं इस धारा की आवश्यकता भी अनिवार्य है और अपने ढंग से यह ज्ञानवर्धक भी है। पर कुछ दक्षिणी अफ्रीका-निवासी अपने संविधान के ऐसे प्रारम्भ से बड़े अप्रसन्न हुए और वे इसके संशोधन के लिए बड़ी लगन से काम करने में जुट गये और अन्त में १९२५ में उन्होंने सफलता प्राप्त करके ही दम लिया। यह अप्रिय धारा संविधान के अन्त में पहुँचा दी गयी और उसके स्थान पर निम्न शब्द रख दिये गये : "संघ की जनता सर्वशक्तिमान परमात्मा के आधिपत्य और निर्देशन को स्वीकार करती है।" यह कहना अनावश्यक ही है कि यह कोई कानूनी नियम नहीं है और बहुत परोक्ष रूप में ही इसे संवैधानिक माना जा सकता है, पर यह उस भावना को निस्सन्देह प्रगट करता है जिसे दक्षिणी अफ्रीका के कुछ निवासी अपनी शासन-प्रणाली की घोषणा के प्रारम्भ में ही रखना आवश्यक समझते थे।

जहाँ इतना मतभेद पाया जाता हो वहाँ एक शास्त्रीय विद्यार्थी के लिए कोई

राय प्रगट करना एक प्रकार की धृष्टता ही है, विशेषकर जब सम्भावना इसी बात की है कि उसकी राय अधिकांश आधुनिक संविधान-निर्माताओं के चलन के विपरीत होगी। तो भी इस अध्याय में जिस मत का प्रतिपादन किया जा रहा है उसके समर्थन में जॉन मार्शल जैसे अधिकारी विद्वान के विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो १८०१ से १८३५ तक अमरीका के प्रमुख न्यायाधीश थे और अमरीकी संविधान के प्रमुख निर्माता थे। उन्होंने **मैक्युलोच बनाम मेरीलैण्ड** (४ ह्वीटन ३१६) के मामले में १८१९ में लिखा था : "किसी संविधान में उसके व्यापक अधिकारों के तमाम छोटे-छोटे विभागोंका, तथा उन्हें व्यवहार में लाने के तमाम उपायों का विस्तार से सही-सही वर्णन करने से वह एक विस्तृत कानूनी संहिता की भाँति लम्बा हो जायगा और उसे ग्रहण करना मानव-मस्तिष्क के लिए कठिन होगा। जनता के द्वारा तो वह शायद कभी समझा ही न जा सके। इसलिए इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि केवल उसकी मोटी रूपरेखा ही अंकित की जाय, उसके महत्वपूर्ण उद्देश्य ही निर्धारित किये जायें, और इन उद्देश्यों में निहित अप्रमुख तत्व इन उद्देश्यों के स्वरूप से ही निकाले जायें।" इस भाँति इस प्रश्न का कि 'संविधान में क्या-क्या होना चाहिये ?' संक्षिप्त-सा उत्तर है : 'न्यून से न्यूनतम होना चाहिये और न्यूनतम भी केवल कानूनी नियमों का ही हो।' आदर्श और श्रेष्ठ संविधान की एक आवश्यक विशेषता यही है कि वह अधिक-से-अधिक संक्षिप्त हो।

पर इतना कहने भर से कोई खास समस्या नहीं सुलझती। ऐसा उत्तर उन तमाम कठिनाइयों से बच निकलता है जिनका सामना तमाम संविधान-निर्माताओं को करना पड़ता है। उनके सामने मुख्य प्रश्न यही होता है कि ऐसा संविधान बनाने के लिए जो उसे चलाने वालों को और उसके अन्तर्गत रहनेवालों को स्वीकार हो सके, कौन-सी बातें छोड़ देना सम्भव है। इसलिए संविधान में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त न्यूनतम बातों को तय करने के पहले उन समस्याओं पर ध्यानपूर्वक विचार करना आवश्यक है जो किसी भी देश में संविधान-निर्माताओं के सामने आती हैं। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि संविधान के किसी आदर्श सर्वश्रेष्ठ रूप की कल्पना करना ही असम्भव है। यह सही है कि संविधान का कोई रूप ऐसा नहीं है जो तमाम जातियों के लिए व्यवहार्य, उपयुक्त अथवा उचित हो सके। किन्तु तो भी, संविधान के एक ऐसे रूप की कल्पना करना अवश्य सम्भव है

जो यदि उन जातियों द्वारा मान लिया जाय जिनके लिए वह व्यवहार्य, उपयुक्त अथवा उचित हो, तो उससे तुरन्त, और फिर बाद में भी, बहुत से लाभदायक परिणाम निकल सकते हैं। संविधान के आदर्श और सर्वश्रेष्ठ रूप की विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हमें इस बात पर विचार करते समय मिलेगी कि विभिन्न जातियों ने अपने-अपने संविधानों में कौन-कौन-सी बातें रखी हैं, तथा उनमें से कौन-सी वास्तव में आवश्यक और अनिवार्य हैं और इस अपरिवर्त्तनीय न्यूनतम में से कितना यदि नहीं होता तो अच्छा था।

सरसरी नजर डालने पर यह लगता है कि जो जातियाँ एकात्मक संविधान स्वीकार करके सन्तुष्ट हो जाती हैं उनके लिए, और सब परिस्थितियाँ समान होने पर, उन जातियों की अपेक्षा सरलतर और संक्षिप्ततर संविधान बनाना सम्भव होता है जो संघीय सरकार बनाना चाहती हैं। क्योंकि यह अनुमान किया जा सकता है कि एकात्मक सरकार के लिए संविधान में केवल विधानमण्डल, कार्यकारिणी और न्याय व्यवस्था का मोटे तौर पर ढाँचा निर्दिष्ट करने की, उनके परस्पर सम्बन्धों की और जाति के साथ उनके सम्बन्धों की मोटी रूपरेखा निर्धारित करने की भी आवश्यकता होती है। इन सिद्धान्तों का विशदीकरण और संविधान को युगीन परिवर्त्तनों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने का काम स्वयं विधानमण्डल के लिए छोड़ दिया जाता है। किन्तु संघीय सरकार के लिए यह आवश्यक है कि संविधान ही समूचे देश की सरकार और विभिन्न भागों की सरकारों के अधिकार-क्षेत्र को अलग-अलग निश्चित कर दे। उसका तमाम विधानमण्डलों के अधिकारों को सीमित करना जरूरी है। उसके लिए यह भी जरूरी है विधानमण्डलों के ऊपर स्वयं संविधान की सर्वोपरिता की व्यवस्था हो और इस प्रकार यह निश्चित कर लिया जाय कि चाहे जिस ढंग से भी संविधान में संशोधन हो, जहाँ तक अधिकारों के विभाजन का प्रश्न है, उसे न तो सारे देश के विधानमण्डलों के अधीन बनाया जा सके, न उसके अन्तर्गत विभिन्न प्रदेशों के विधानमण्डलों के।

इस भाँति यह स्पष्ट है कि विधान-निर्माण-सम्बन्धी, और सम्भवतः कार्यकारी और न्याय-व्यवस्था-सम्बन्धी अधिकारों के उपयोग की दृष्टि से एकात्मक राज्य के संविधान की अपेक्षा संघ के संविधान में अधिक विशद और जटिलतापूर्ण व्यवस्था की सम्भावना है। किन्तु यहाँ भी अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि यह अधिकार-

विभाजन भली भाँति भी किया जा सकता है और बुरी भाँति भी। वास्तव में यह अध्ययन काफी दिलचस्प है कि कितनी अधिक बार उसे बुरी तरह किया जाता है तथा उसे भली भाँति करना कितना कठिन है। सबसे पहले तो एक साधारण-सी जान पड़नेवाली बात को ही ले लीजिये। संघीय संविधान बनाते समय क्या सबसे अच्छा उपाय यही है कि उन तमाम बातों की सूची बना ली जाय जिनके ऊपर समस्त देश के संविधान का एकान्त अधिकार होगा, और बिना गिनाई गई बाकी सब बातें प्रदेशों के विधानमण्डलों के लिए छोड़ दी जायें? या यह उत्तम होगा कि प्रदेशों के विधानमण्डलों के एकान्त अधिकारों को सूचीबद्ध किया जाय और बाकी सबको संघीय सरकार के लिए छोड़ दिया जाय? अथवा क्या दो सूचियाँ होनी चाहिये—एक समूचे देश के एकान्त अधिकारों की और दूसरी प्रदेशों के एकान्त अधिकारों की? पर इससे भी सारी सम्भावनाएँ खत्म नहीं होतीं। क्या कुछ ऐसे विषय नहीं हो सकते जिनपर दोनों विधानमण्डलों का कानून बना सकना अधिक वांछनीय माना जाय, यद्यपि यह ठीक है कि मतभेद होने पर केवल एक के ही—साधारणतः केन्द्रीय विधानमण्डल के—कानून माने जायेंगे? यह समवर्त्ती अधिकार-क्षेत्र का विचार अधिकांश संघीय संविधानों में प्रगट होता है और पहली दो के अतिरिक्त तीसरी सूची की भी सम्भावना बढ़ा देता है।

१९५० के भारतवर्ष के संविधान में, जिसने भारतवर्ष के लिए अर्ध-संघीय संविधान स्थापित किया है, विधानमण्डलों के अधीन विषयों को तीन सूचियों में बाँटा गया है। एक तो संघीय विषयों की सूची है जिनपर समूचे देश के विधान-मण्डल का एकान्त अधिकार है; फिर एक विभिन्न राज्यों की विधान-सूची है जिन-पर राज्य-सरकारों का एकान्त अधिकार है; और अन्त में एक समवर्त्ती विधान-सूची है जिसके विषयों पर दोनों श्रेणी के विधानमण्डलों का अधिकार है। इसमें केवल एक ही शर्त्त है कि मतभेद होने पर समवर्त्ती सूची के विषयों के क्षेत्र में आम तौर पर राज्यों के विधानमण्डलों की अपेक्षा केन्द्रीय विधानमण्डल के कानून ही अधिक मान्य होंगे। यह बात दिलचस्प है कि अधिकारों का इस प्रकार विभा-जन करने में १९५० के भारतीय संविधान के निर्माता उन्हीं ब्रिटिश विधाननिर्मा-ताओं का अनुसरण कर रहे थे जिन्होंने १९३५ का भारत शासन अधिनियम तैयार किया था और उसमें वैसी ही तीन वैधानिक सूचियाँ रखी थीं। वास्तव में तो उन

लोगों ने इससे भी एक कदम आगे बढ़कर समवर्त्ती सूची को भी दो में बाँट दिया था।

कनाडा के संविधान में भी तीन सूचियाँ हैं, यद्यपि यह सही है कि वहाँ समवर्त्ती सूची छोटी है—उसमें केवल देशान्तरवास और कृषि ये ही दो विषय हैं। किन्तु बाकी दो सूचियों से यह भली भाँति प्रगट हो जाता है कि एक से अधिक सूची बनाते ही कैसी-कैसी पेचीदगियाँ पैदा हो जाती हैं। स्पष्ट ही कनाडा के संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य यह था कि कुछेक विषयों पर तो प्रान्तीय विधान-मण्डलों का ही एकान्त अधिकार हो और—उपर्युक्त छोटे से समवर्त्ती क्षेत्र को छोड़कर—बाकी सब विषय कनाडा की संसद के एकान्त अधिकार में हों। इसीलिए संविधान की धारा ९२ में हमें एक विषय-सूची मिलती है जिनपर हर प्रान्त के विधानमण्डल को अपने-अपने अलग अलग कानून बनाने का अधिकार है। निश्चय ही यह लगता है कि ऐसी अवस्था में सबसे असंदिग्ध कथन यही होगा कि संविधान की धारा ९२ जिन विषयों का एकान्त अधिकार प्रान्तों को सौंपती है उनको छोड़कर बाकी सारे विषय कनाडा की संसद के अधिकार में होने चाहियें। संविधान के निर्माताओं ने वास्तव में यही कहा भी, पर वे इतना ही कह कर संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने आगे यह भी कहा, और उनके शब्द अनभिप्रेत व्यंग्य का विख्यात उदाहरण बन गये हैं कि 'अधिक असंदिग्धता के लिए' आगे गिनाये गये सब विषयों पर भी कनाडा की संसद का ही अधिकार है।

पर यह पूछा जा सकता है कि संविधान में एक से अधिक विषय-सूची रखने में आपत्ति क्या है? आपत्ति यही है कि इस बात को लेकर विवाद होना निश्चित है कि अमुक विषय एक सूची के शीर्षक के अन्तर्गत आता है अथवा दूसरी के, क्योंकि शब्द व्यापक और कई अर्थवाची होते हैं और यह बड़ी ही आश्चर्यजनक बात होती कि दो-तीन सूचियाँ बनाने पर भी उनमें कहीं एक का विषय दूसरी में आ जाने की सम्भावना ही न हो। कनाडा ने इसके बहुत से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, पर एक प्रसिद्ध उदाहरण का उल्लेख ही पर्याप्त होगा। संविधान में प्रान्तों के एकान्त अधिकार वाली सूची में एक विषय है, 'प्रान्तों में सम्पत्ति विषयक और नागरिक अधिकार।' साथ ही 'व्यापार और वाणिज्य के नियन्त्रण' तथा 'महाजनी, बैंकों की स्थापना तथा नोट चालू करने' का एकान्त अधिकार कनाडा की संसद को है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन विषयों से सम्बन्धित कानूनों का

'प्रान्तों के सम्पत्ति विषयक और नागरिक अधिकारों' पर बहुत बार अवश्य प्रभाव पड़ेगा। कनाडा के संविधान के इस वाक्यांश की व्याख्या और दोनों सूचियों के बीच अन्य ऊपरी विरोधों को लेकर कनाडा के न्यायालयों में निरन्तर विवाद होता ही रहा है। वास्तव में एक ही सूची के विषयों की परस्पर विरोधरहित व्याख्या करना काफी कठिन काम है। और फिर जब दूसरी और तीसरी सूचियाँ भी जोड़ दी जायें तब तो अदालतों का कार्य बहुत ही जटिल और उलझनभरा हो जाता है। इसलिए संघीय राज्य का संविधान बनाते समय केवल एक ही सूची से संतोष करना ही अधिक संगत जान पड़ता है।

यह निर्णय करना भी आसान नहीं है कि इस एक सूची में भी कौन से विषय हों—वे जिनपर केन्द्रीय विधानमण्डल कानून बनाये और बाकी प्रदेशीय विधानमण्डलों के लिए छोड़ दिये जायें अथवा इसका उलटा हो। यह भी कहा जा सकता है कि प्रदेशीय विधानमण्डलों के अधिकार-क्षेत्र के विषयों को निर्दिष्ट कर दिया जाय और बाकी सब केन्द्र के लिए छोड़ दिये जायें, क्योंकि इस बात की पहले से कल्पना करना असम्भव है कि भविष्य में कौन-से ऐसे महत्वपूर्ण विषय निकल पड़ेंगे जिनपर केन्द्र का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसका एक अच्छा उदाहरण हवाई यात्रा अथवा अणुशक्ति का विकास है। अमरीका, स्विट्ज़रलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया के संविधान बनाते समय केन्द्रीय विधानमण्डल के अधिकार तो निर्दिष्ट कर दिये गये थे और बाकी सब अधिकार प्रदेशीय विधानमण्डलों के लिए छोड़ दिये गये थे। उस समय तक हवाई यात्रा और अणुशक्ति के विकास का कोई पता ही न था, इसलिए केन्द्र के अधिकारों में उनका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। वैसे व्यवहार में स्थिति इतनी खराब नहीं है जितनी ऊपर से दिखाई पड़ती है। सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार और अन्तर्राज्यिक वाणिज्य सम्बन्धी अधिकारों के सिलसिले में केन्द्रीय विधानमण्डलों को इन सब विषयों पर काफी अधिकार रहता है। किन्तु जैसे ऑस्ट्रेलिया में, ये अधिकार पूर्ण नहीं हैं और इस बात के प्रयत्न किये जाते रहे हैं—जो अभी तक असफल ही रहे हैं—कि संविधान में संशोधन करके राष्ट्रमण्डल की संसद को हवाई यात्रा के क्षेत्र में और अधिकार मिल जायें।

दूसरी ओर, भावी परिस्थितियों पर केन्द्र का नियन्त्रण छोड़ देने के जो भी लाभ हों, अनुभव से यह बात सिद्ध है कि राज्य अथवा जातियाँ संघीय संविधान बनाते

समय यह अधिक अच्छा समझती हैं कि केन्द्रीय सरकार को सौंपे जानेवाले अधिकार स्पष्ट शब्दों में और सीमित करके पहले ही लिख लिये जायें। कोरा चेक देने में उन्हें भय लगता है। बहुत बार तो यदि शेषाधिकार संबबद्ध होनेवाली इकाइयों के पास न रहने दिये जायें तो किसी प्रकार का संघ बनना ही सम्भव नहीं होता। कभी-कभी यह भी होता है कि एकान्त अधिकारों की सूची के साथ-साथ समवर्त्ती अधिकारों की सूची बनाये बिना संघ नहीं बन पाता, बल्कि ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब सम्बद्ध लोगों की आकांक्षाओं और शंकाओं को पूरा करने के लिए तीन-तीन अथवा उससे भी अधिक सूचियाँ बनानी पड़ती हैं। संविधान बनाने वाले को तौल कर देखना पड़ता है कि ऐसी जटिल और अनिवार्य रूप से कष्टदायक शर्त्तों पर संघ बनाने में अधिक हानि है अथवा संघ एकदमन बनाने में।

संघीय अथवा अर्धसंघीय संविधान तैयार करने की कठिनाइयों के बारे में अबतक जो कुछ कहा जा चुका है उससे सम्भव है यह निष्कर्ष निकाला गया हो कि एकात्मक राज्य का संविधान बनाने वालों का कार्य, अनिवार्य रूप से सदा सहज ही होता होगा। यह बात सही नहीं है। जो कुछ अब तक कहा गया है उसका उद्देश्य यही है कि अधिकारों के विभाजन के कारण संघीय संविधान बनाते समय इस बात को लेकर कठिनाइयाँ पैदा होना अनिवार्य है कि संविधान में क्या शामिल किया जाय और क्या नहीं किया जाय, और ये कठिनाइयाँ एकात्मक राज्य का संविधान बनाते समय सामने नहीं आतीं। पर एकात्मक संविधान के निर्माताओं को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—ऐसी कठिनाइयाँ जो कभी-कभी संघीय संविधान के निर्माताओं के सामने भी आ जाती हैं और जो उनकी मौजूदा अनिवार्य कठिनाइयों को तीव्रतर कर देती हैं। सच बात यह है कि एकात्मक सरकार बनाने के लिए तैयार हो जाने पर भी जनता प्रायः यह मानती है कि उस सरकार के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगा देने चाहिये। सरकार के प्रति यह रवैया संविधान में नागरिकों के कुछ ऐसे अधिकारों अथवा ऐसी स्वाधीनताओं की घोषणा जोड़ देने में प्रगट होता है जिनके लागू करने की सरकार से आशा की जाती है, कम-से-कम यह तो माना ही जाता है कि सरकार उन पर प्रहार नहीं करेगी।

संविधान-निर्माता के लिए ये अधिकार सम्बन्धी घोषणाएँ बड़ी समस्याएँ उप-

स्थित करती हैं। यदि उन्हें संविधान में शामिल नहीं किया जाता तो जनता के एक प्रभावशाली वर्ग के विरोधी बन जाने और संविधान के स्वीकृत ही न हो पाने की आशंका बनी रहती है पर यदि उन्हें शामिल किया जाय तो इन अधिकारों के स्वरूप और सीमा की इस प्रकार व्याख्या करना बड़ा कठिन होता है कि किसी महत्वपूर्ण और वास्तविक उद्देश्य की पूर्त्ति हो सके। यदि सरकार को सफल होना है तो उसके नागरिकों के बहुत ही कम अधिकारों को चरम रूप में रखा जा सकता है। यदि कोई संविधान यह घोषणा करे कि वह नागरिकों को भाषण की स्वतन्त्रता, अखबार निकालने की स्वतन्त्रता, संगठित होने की स्वतन्त्रता, सड़क पर जुलूस निकालने और प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रता देने का और घर और व्यक्ति की अनुल्लंघनीयता का वचन देता है तो निश्चय ही वह स्वेच्छाचार की स्वाधीनता का वचन देता है। इन अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध तो होना ही चाहिये। जिन संविधानों में अधिकारों की घोषणा होती है उनमें से अधिकांश में यह भी माना ही जाता है कि इन अधिकारों के प्रयोग पर कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाये जाने चाहिये।

ऐसे बहुत ही थोड़े से संविधान हैं जो लगभग प्रतिबन्धहीन अधिकार अपने नागरिकों को देने का वचन देते हैं। उनमें से एक सोवियत यूनियन का संविधान है। १९३६ के सोवियत संविधान की धारा १२५ में हमें ये शब्द मिलते हैं: 'श्रमजीवी जनता के हितों के अनुरूप और समाजवादी व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए सोवियत संघ के नागरिकों को कानून द्वारा नीचे लिखे अधिकारों का वचन दिया जाता है :

(१) भाषण की स्वतन्त्रता;
(२) अखबार निकालने या उसमें लिखने की स्वतन्त्रता;
(३) एकत्र होने और संगठन की स्वतन्त्रता;
(४) सड़क पर जुलूस निकालने और प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रता।

नागरिकों द्वारा इन अधिकारों का उपयोग निश्चित बनाने के लिए श्रमजीवी जनता और उसके संगठनों को छापेखाने, छापने के कागज, सार्वजनिक इमारतें, सड़कें, संदेशवाही साधन तथा इन अधिकारों के उपयोग के लिए आवश्यक अन्य सामग्री जुटाने की भी व्यवस्था की जायगी।' धारा १२८ में लिखा है: 'नागरिकों के घरों की अनुल्लंघनीयता और पत्र-व्यवहार की गुप्तता कानून द्वारा सुरक्षित है।' परन्तु

ोवियत संविधान में भी कुछ अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। धारा १२७ में नागरिक को 'व्यक्ति की अनुल्लंघनीयता' का वचन दिया गया है, पर स्पष्ट ही गिरफ्तार किये जा सकने की सम्भावना भी मानी गयी है, क्योंकि उसी धारा में आगे लिखा है : 'अदालत की आज्ञा अथवा सरकारी वकील की अनुमति के बिना किसी को गिरफ्तार नहीं किया जा सकेगा।'

यूगोस्लाविया के जनता के संघीय प्रजातन्त्र के संविधान (१९४६) में भी, जो सोवियत संविधान से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है, धारा २७ में भाषण, संगठन, एकत्रीकरण, सार्वजनिक सभा करने और अखबार निकालने की बिना शर्त्त स्वतन्त्रता का वचन दिया गया है। पर दूसरी बातों में वह नागरिकों को स्वतन्त्रता प्रदान करने में अपेक्षाकृत कम उदार है। उसमें भी सोवियत संविधान की भाँति कानून के अनुसार गिरफ्तार किये जाने की सम्भावना स्वीकार की गयी है, पर सोवियत संविधान के विपरीत उसमें घर की अनुल्लंघनीयता और पत्र-व्यवहार की गुप्तता का कोई वचन नहीं दिया गया है। धारा २९ और ३० में कहा गया है कि तलाशी का कानूनी वारंट दिखा कर दूसरे व्यक्ति के घर में प्रवेश किया जा सकेगा, और अपराध की छानबीन के दौरान में, सैन्य-प्रचालन के समय, अथवा युद्धकाल में पत्र-व्यवहार की पूर्ण गुप्तता न रहेगी।

वास्तव में नागरिकों के अधिकारों की किसी भी यथार्थवादी व्याख्या करने के प्रयत्न में प्रतिबन्ध लगाये बिना काम नहीं चल सकता। पर जब हम परिणाम देखते हैं तो यह प्रश्न पूछने का लालच छोड़ना कठिन है कि प्रतिबन्धों का पूरा उपयोग होने पर उन अधिकारों में सार की चीज क्या बच रहती है? आयरलैंड के संविधान में इस स्थिति का एक दिलचस्प उदाहरण पाया जाता है। उसमें बुनियादी अधिकारों से सम्बन्धित ४० से लगाकर ४४ तक कई एक धाराएँ हैं। पहले इस कथन पर विचार कीजिये : 'कानून की अनुकूलता के बिना किसी नागरिक की व्यक्तिगत स्वाधीनता नहीं छीनी जायगी।' कुछ आगे चलकर लिखा है : 'हर नागरिक का निवास-स्थान अनुल्लंघनीय है और कानून की अनुकूलता के बिना उसमें जबर्दस्ती प्रवेश न किया जा सकेगा।' इस गारंटी का निचोड़ क्या है? इसका एक ही उत्तर हो सकता है : 'सब कुछ कानून के ऊपर निर्भर है।' यदि कानून द्वारा राज्य को गिरफ्तार करने और जबर्दस्ती घर में प्रवेश करने के व्यापक अधिकार

मिले हुए हैं तो नागरिक के अधिकार बहुत ही सीमित हो जायेंगे।

१९३७ में संविधान स्वीकार करने के तुरन्त बाद ही आयरलैंड में जो स्थिति सामने आयी उसका अनुभव इस दुविधा को भली-भाँति स्पष्ट कर देता है। सन् १९४० में आयरिश संसद ने राज्य-विरोधी अपराध ( संशोधन ) अधिनियम स्वीकृत किया जिसकी धारा ४ इस प्रकार थी : 'जब भी किसी राज्य के मन्त्री का यह मत हो कि अमुक व्यक्ति ऐसे कार्यों में लगा हुआ है जिसका उसकी राय में, देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने अथवा राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से विपरीत प्रभाव पड़ता है, तो वह मन्त्री अपने हस्ताक्षर द्वारा और अपनी सरकारी मुहर लगाकर उस व्यक्ति को गिरफ्तार और नजरबन्द करने की आज्ञा दे सकता है…'। आयरलैंड के सर्वोच्च न्यायालय के सामने इस बात का निर्णय करने का प्रश्न आया कि यह तथा इस अधिनियम की ऐसी ही अन्य कई धाराएँ वैध हैं या नहीं, क्योंकि वे संविधान में दिये गये कुछ अधिकारों की गारंटी के विरुद्ध और विपरीत जान पड़ती थीं। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि अधिनियम वैध है। उसने विशेष रूप से संविधान की इस घोषणा की ओर [ धारा ४० ( ३ ) ] ध्यान आकर्षित किया कि राज्य इस बात की गारंटी करता है कि अपने कानूनों के द्वारा प्रत्येक नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों का आदर करेगा और यथासम्भव अपने कानूनों द्वारा उन अधिकारों की रक्षा और समर्थन करेगा, तथा हर नागरिक के जीवन, शरीर, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करेगा और किसी प्रकार का अन्याय होने पर उसका प्रतिकार करेगा। सर्वोच्च न्यायालय ने घोषित किया कि उक्त अधिनियम इस धारा के प्रतिकूल नहीं है। उसने कहा : 'किसी एक नागरिक के अथवा नागरिकों के किसी एक विशेष वर्ग के अधिकार समस्त नागरिकों के अधिकारों के किस हदतक अनुकूल हैं अथवा नहीं, यह निर्धारित करने की जिम्मेदारी, हमारे मत से, विशेष रूप से विधानमण्डल के क्षेत्र की बात है, और विधानमण्डल के इस कर्त्तव्य को पूरा करने में रुकावट डालने का प्रयत्न हमारे मत से उसके अधिकारों पर आघात करना होगा।' आगे उसने 'कानून की अनुकूलता' के ऊपर भी विचार किया। उसने कहा: " 'कानून की अनुकूलता' नामक वाक्यांश संविधान की कई धाराओं में आया है और हमारी राय में इसका अर्थ है कि जिस समय वह विशेष धारा काम में लायी जाय और उसकी

सहायता ली जाय उस समय उसका जो भी कानूनी रूप मौजूद हो उसकी अनुकूलता होनी चाहिये।' 'जो व्यक्ति विधानमण्डल द्वारा यथारीति स्वीकृत संविधि की धाराओं के अन्तर्गत गिरफ्तार करके नजरबन्द किया जाता है वह कानून की अनुकूलता के साथ गिरफ्तार और नजरबन्द माना जायगा; इसमें यह शर्त्त तो सदा ही रहती है कि ये धाराएँ संविधान अथवा उसकी किसी धारा के विरुद्ध न होनी चाहिये।" [ **ऑफेंसिज़ अगेंस्ट द स्टेट (एमेंडमेंट) बिल,** १९४० ( १९४० ) आई० आर० ४७०, पृष्ठ ४८१-८२ ]

इस रूप में अधिकारों की घोषणा आम तौर पर संविधानों में पायी जाती है। इस भाँति बेल्जियम के संविधान की धारा ७ में व्यक्तिगत स्वाधीनता की गारंटी की गयी है, पर उसी में आगे कहा गया है कि अपराध करते समय पकड़े जाने की स्थिति को छोड़कर, किसी को भी बिना वारंट के गिरफ्तार नहीं किया जायगा। ऐसा ही उपबन्ध ( provision ) हॉलैंड के संविधान में ( धारा १६४ ), नॉर्वे के संविधान में ( धारा ९९ ), स्वीडन के संविधान में ( धारा १६ ) और डेनमार्क के संविधान (धारा ७८ ) में भी मिलता है। डेनमार्क के संविधान में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि गिरफ्तार व्यक्ति को गिरफ्तारी के चौबीस घंटे के भीतर किसी न्यायाधीश के सामने लाये जाने और अपनी गिरफ्तारी की वैधता निश्चित करवाने का अधिकार है। इन देशों की सरकारों के अच्छी होने की ख्याति है; उनमें अधिकार के स्वच्छंद उपयोग के बहुत कम प्रमाण मिलते हैं। इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि उनके संविधानों में अधिकारों की यह तथा ऐसी ही अन्य घोषणाएँ, जिनको कानून की अनुकूलता के बिना सीमित नहीं किया जा सकता, व्यवहार में कार्यकारी सिद्ध होती हैं, क्योंकि वहाँ कानून कार्यकारिणी को कोई स्वेच्छाचारी अधिकार देता ही नहीं। सोवियत रूस और यूगोस्लाविया में कानून कार्यकारिणी पर इतने प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

यहाँ यह उचित होगा कि अधिकारों की घोषणा को इस रूप में रखनेवाले के सामने जो उद्देश्य होता है उसको स्पष्ट कर दिया जाय। इस बात पर जोर देकर कि कानून की अनुकूलता के बिना अधिकारों पर प्रतिबन्ध न लगाये जायें, वे यह आशा करते हैं कि राज्य में स्वेच्छाचारी शक्तिका उपयोग मिट जायगा अथवा बहुत कुछ कम हो जायगा। उन्हें आशा रहती है कि इसके फलस्वरूप किसी के अनधिकारी कार्य

से कोई गिरफ्तार न हो सकेगा। अधिकारों का उल्लंघन करते समय किसी कानून-सम्मत प्राधिकार ( authority ) का आधार अवश्य होना चाहिये। उनका विश्वास शायद यह हो कि विधानमण्डल द्वारा कार्यकारिणी को गिरफ्तारी, नजरबन्दी और दमन की अनियमित और व्यापक क्षमता प्रदान करना वास्तव में कानून के अनुकूल शासन नहीं है, चाहे ऊपर से भले ही वह वैसा लगे। वे कहेंगे कि कानून का अर्थ है सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार व्यवस्था; उसका अर्थ केवल ऐसे अधिनियम स्वीकार करना नहीं है जो कार्यकारिणी को मनमानी करने की अनुमति दे देते हों।

किन्तु यह बहुत सम्भव है कि इन सब तर्कों के बावजूद यह 'कानून की अनुकूलता के बिना' वाक्यांश केवल खाली वादा भर होकर रह जायें। इसका सबसे हास्यास्पद रूप था चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान की प्रस्तावना में अधिकारों की घोषणा सम्बन्धी एक स्थल में। उसमें लिखा था : "हड़ताल करने के अधिकार का उपयोग उसका नियन्त्रण करने वाले कानूनों के ढाँचे के अन्दर ही किया जा सकता है।" इस बातपर काफी जोर देना जरूरी है कि इस फार्मूला के अनुसार अधिकारों की रक्षा और गारंटी अन्ततः विधानमण्डल की मर्जी पर ही निर्भर करती है।

किन्तु अधिकांश संविधानों में अधिकार सम्बन्धी घोषणा से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों का सामना करने का ही प्रयत्न किया जाता है और 'कानून की अनुकूलता के बिना' की शर्त्त लगाकर उनसे बच निकलने की कोशिश सदा नहीं की जाती। यहाँ आयरलैंड और भारतवर्ष के संविधान इस बात के उदाहरण हैं कि संतोषजनक रीति से यह काम पूरा करना कितना कठिन है। आयरिश संविधान से कुछ उदाहरण लीजिये। संविधान की धारा ४० ( ६ ) में यह घोषणा की गयी है कि राज्य 'नागरिकों के स्वाधीनतापूर्वक अपने विचार और मत प्रगट करने के अधिकार' के, 'नागरिकों के शांतिपूर्वक और बिना शस्त्र इकट्ठा होने के अधिकार' के और 'नागरिकों के संस्थाएँ तथा यूनियन बनाने के अधिकार' के स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग की गारंटी करता है। पर संविधान-निर्माताओं को इस सारी स्वतन्त्रता की गारंटी के साथ 'सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता' की शर्त्त लगाने के लिए मजबूर होना पड़ा। स्वाधीनतापूर्वक विचार प्रगट करने के अधिकार के साथ यह शर्त्त जुड़ी हुई है कि 'राज्य इस बात का निश्चित प्रयत्न करेगा कि लोकमत के साधन, जैसे रेडियो,

अखबार, सिनेमा अपनी-अपनी अभिव्यक्ति की समुचित स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए भी, जिसमें सरकारी नीति की आलोचना तक शामिल है, सार्वजनिक व्यवस्था, अथवा नैतिकता अथवा राज्य की सत्ता को नष्ट करने के लिए न प्रयोग में लाये जायें।' साथ ही यह भी घोषणा की गयी है कि धर्म की निन्दा करनेवाली, राजद्रोहात्मक अथवा अश्लीलतापूर्ण बातें कहना अथवा छापना ऐसा अपराध है जिसके लिए कानून के अनुसार दंड दिया जायगा। शान्तिपूर्वक एकत्र होने के अधिकार की घोषणा के साथ यह शर्त्त लगी हुई है कि ऐसी सभाएँ, जिनसे शान्ति भंग होने अथवा किसी प्रकार के खतरे अथवा उत्पात की आशंका हो, रोकी अथवा नियन्त्रित की जा सकती है; इसी प्रकार विधानमण्डल की किसी सभा के आसपास होनेवाली सभाएँ भी रोकी अथवा नियन्त्रित की जा सकती हैं। इसी भाँति संगठित होने के अधिकार के साथ सार्वजनिक हित में कानून द्वारा व्यवस्थित और नियन्त्रित किये जाने की शर्त्त मौजूद है। भारतीय संविधान की १९ से २२ तक की धाराओं में भी इसी प्रकार की अधिकार सम्बन्धी घोषणाएँ ऐसी ही शर्त्तों के साथ मिलती हैं। अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि अधिकारों के ऊपर ये प्रतिबन्ध अनुचित नहीं हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के बहुत से देशों में ये प्रतिबन्ध कानून का ही अंग हैं, यद्यपि इन देशों के संविधानों में अधिकारों की घोषणाएँ बहुत कम पायी जाती हैं। तो क्या आयरिश तथा भारतीय संविधानों में इन अधिकारों को प्रतिबन्ध सहित शामिल करने से कोई लाभ है?

एक हाथ से अधिकार देने और दूसरे से छीन लेने का बढ़िया उदाहरण आयरिश संविधान की धारा ४३ में मिलता है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार की चर्चा है। धारा इन उत्साहवर्धक शब्दों से शुरू होती है: "राज्य इस बात को स्वीकार करता है कि विचारवान प्राणी होने के नाते मनुष्य को विध्यात्मक विधान से पूर्व ही बाह्य सम्पत्ति के व्यक्तिगत रूप में स्वामी होने का अधिकार है।" आगे उसमें ऐसी बात भी कही गयी है जिससे पुराने-से-पुराने ढंग के पूँजीवादी का दिल भी खुश हो जाय: "इसलिए राज्य इस बात की गारंटी करता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार, अथवा सम्पत्ति के परिवर्त्तन, दान अथवा उत्तराधिकार के आम अधिकार को खत्म करने का प्रयत्न करनेवाला कोई कानून नहीं बनाया जायगा।" पर अगले दो वाक्य निराशाजनक हैं: "किन्तु राज्य इस बात को मानता है कि इस धारा के

उपर्युक्त उपबन्धों में वर्णित अधिकारों का उपयोग, नागरिक समाज में सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार नियन्त्रित होना चाहिये। इसलिए अवसर पड़ने पर राज्य उपर्युक्त अधिकारों को कानून द्वारा इस प्रकार सीमित कर सकता है कि उनका उपयोग सार्वजनिक हित की आवश्यकताओं के अनुरूप हो सके।" यूगोस्लाविया का संविधान भी इससे बहुत आगे नहीं जाता। उसकी धारा १८ में व्यक्तिगत सम्पत्ति और अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत कार्य की गारंटी की घोषणा के साथ-साथ आगे कहा गया है: "सार्वजनिक हित के लिए आवश्यक होने पर कानून के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति को सीमित किया अथवा छीना जा सकता है।" १९३६ के सोवियत संविधान की धारा १० में जो सूत्र स्वीकार किया गया है उससे कुछ आशाएँ बढ़ती हैं और कुछ निराशाएँ: "काम द्वारा आमदनी तथा बचत के रूप में, रहने के मकान और औजारों के रूप में, घर-गृहस्थी की वस्तुओं और बर्तनों इत्यादि के रूप में और व्यक्तिगत उपयोग और आराम की वस्तुओं के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का और उसके उत्तराधिकार का नागरिकों का अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित है।"

यदि अधिकारों की व्याख्या और गारंटी ऐसी अनिश्चित और परस्पर-विरोधी शब्दावली में की जाती है—और किसी दूसरे रूप में उनकी व्याख्या लगभग असम्भव है—तो इनका लागू करना कितना कठिन काम है? इस रूप में घोषित अधिकार की सीमा कैसे निर्धारित की जाय? इस समस्या का महत्व उन देशों में तो नहीं के बराबर है जहाँ अधिकारों की घोषणा वाग्जाल अथवा बहकावे से अधिक कुछ नहीं है, पर जब संविधान में गारंटी प्राप्त अधिकारों को व्यावहारिक रूप देने की कोशिश किसी देश में की जाती है तो तुरन्त कठिनाइयाँ पैदा होने लगती हैं। कई जगह नागरिकों को कार्यकारिणी अथवा विधानमण्डल को इस आधार पर चुनौती देने की सुविधा होती है कि उनके संविधान द्वारा दिये हुए अधिकारों पर प्रहार हो रहा है। पर जब संविधान के शब्द इतने अनिश्चित और शर्तों से बँधे हुए हों, और जब वे भावावेश और राजनीतिक अर्थ से भी भरे हुए हों, तब न्यायाधीशों का कार्य ऐसा हो जाता है जिसे वे न्यायव्यवस्था को सामयिक वाद-विवाद में उलझाए बिना पूरा नहीं कर सकते।

इस दृष्टि से अमरीका के अनुभव से कुछ उपयोगी उदाहरण मिलते हैं। अम-

रीकी संविधान के प्रथम दस संशोधन, जो एक साथ ही सन् १७९१ में स्वीकृत हुए थे, आम तौर पर 'अधिकार-पत्र' कहलाते हैं और उनमें तथा स्वयं संविधान के कुछ अन्य उपबन्धों तथा संशोधनों में, नागरिको के कुछ, विशेषकर सरकार के विरुद्ध, अधिकारों की घोषणा की गयी है और उनकी रक्षा का वचन दिया गया है। बहुत से मतभेद के अवसरों पर इन उपबन्धों की व्याख्या करने का भार संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर आकर पड़ा है और उसे "स्वाधीनतापूर्वक धर्मपालन," 'भाषण अथवा प्रकाशन की स्वतन्त्रता' जैसी शब्दावली का सुनिश्चित अर्थ बताने को लाचार होना पड़ा है। इनमें सबसे कठिन उपबन्ध शायद यह रहा होगा कि किसी भी व्यक्ति की 'जानमाल अथवा आजादी समुचित कानूनी कार्रवाई के बिना न छीनी जा सकेगी; न न्यायोचित प्रतिकर दिये बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए ली जा सकेगी।'

यह सारी शब्दावली अनिश्चित है। 'आजादी' का अर्थ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग होता है और एक ही व्यक्ति के लिए भी अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग होता है। १९४० में अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को पेनसिलवानिया राज्य के एक स्कूल के बोर्ड के एक नियम की वैधता निर्धारित करनी पड़ी। नियम यह था कि राजकीय स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों को अमरीकी राष्ट्रीय झण्डे की सलामी के समारोह में अनिवार्य रूप से शामिल होना पड़ेगा। ( **माइनर्स विल स्कूल डिस्ट्रिक्ट बनाम गोबिटिस ३१० सं० रा० ५८६** )। जेहोवाज़ विटनेसिज़ नामक सम्प्रदाय के माता-पिताओं के बच्चों ने इस बुनियाद पर अमरीकी झण्डे को सलामी देने से इन्कार कर दिया था कि ऐसा करना उनके धार्मिक विश्वासों के विपरीत था। सर्वोच्च न्यायालय से इस नियम को अवैध करार देने की प्रार्थना की गयी क्योंकि उससे स्वाधीनतापूर्वक धर्मपालन में बाधा पड़ती थी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि नियम वैध है; इसके विरोध में केवल एक ही मत था। बहुमत का कहना यह था कि उपर्युक्त नियम का अभिप्राय राष्ट्रीय झण्डे के सम्मान के समारोह की माँग करके, चाहे जितने गलत ढंग से ही सही, अमरीकी समाज की बुनियाद को दृढ़ करने का है, और इस भाँति आजादी कम होने के स्थान पर उलटे उससे वह आधार मजबूत होता है जिस पर वह आजादी टिकी हुई है। अदालत का कहना था कि

इस तरह के मामले में विधानमण्डल का निर्णय अधिक वांछनीय है, इसलिए उसने अपना निर्णय देने से इन्कार कर दिया। विरोधी मत देनेवाले न्यायाधीश मि० स्टोन का ( जो बाद में प्रमुख न्यायाधीश हुए ) कहना था कि यह नियम संविधान द्वारा सुरक्षित भाषण की तथा धार्मिक दोनों स्वतन्त्रताओं का ऐसा स्पष्ट उल्लंघन करता है कि अदालत को उसे अवैध घोषित करने का अधिकार है। १९४२ में जेहोवाज़ विटनेसिज़ने फिर एक मुकदमा दायर किया। इस बार मामला कुछ अमरीकी नगरों के कानूनों को लेकर था जिनके अनुसार विविध वस्तुओं के, जिनमें पुस्तकें भी शामिल थीं, विक्रेताओं को लायसेंस लेना आवश्यक था। निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों, मि० ब्लैक, मि० डगलस और मि० मर्फी, ने कहा कि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि झण्डे की सलामीवाले मामले में उनकी पिछली राय गलत थी ( **जोन्स बनाम ओपेलिका** ३१६, सं० रा० ५८४, पृष्ठ ६२३-२४ )। एक वर्ष बाद १९४० वाला निर्णय, यद्यपि बहुमत द्वारा ही, अस्वीकृत कर दिया गया ( **वेस्ट वर्जिनिया बोर्ड आफ एजुकेशन** ३१९ सं० रा० ६२४ )। यह बात उल्लेखनीय है कि १९४० की तुलना में १९४३ में दो नये न्यायाधीश अदालत में बैठे थे और अब मि० स्टोन मुख्य न्यायाधीश थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस प्रकार की शब्दावली की व्याख्या में न्यायाधीश एकमत निश्चित, अथवा पूर्वापर विरोधहीन, नहीं हो पाते।

आर्थिक क्षेत्र में तो 'आजादी' का कई एक अर्थों में प्रयुक्त होना सर्वथा स्वाभाविक भी है। कोई कहेगा आर्थिक आजादी का अर्थ यह है कि आदमी अपनी मेहनत को अधिक-से-अधिक दामों पर बेचे और जबतक कर सके, काम करे। दूसरा कहेगा कि यदि मेहनत के अधिक-से-अधिक घण्टों और मजदूरी की कम-से-कम दर पर प्रतिबन्ध न लगाये गये तो आजकल की दुनिया में बहुत से लोग अपनी मेहनत को एकदम बेच ही न पायेंगे। पहला दृष्टिकोण मनमानी नीति के युग का है; दूसरा सामूहिकतावाद के युग का। संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उस देश में होनेवाले विचारों के परिवर्त्तन से अछूता नहीं रहा है। १९०५ में (**लोचनर बनाम न्यूयार्क** १९८ सं० रा० ४५ वाले मामले में) अदालत ने न्यूयार्क राज्य का एक कानून, जिसके अनुसार नानबाइयों के लिए सप्ताह में अधिक-से-अधिक साठ और दिन में अधिक-से-अधिक दस घंटे नियत कर दिये गये

थे, इस बुनियाद पर अवैध ठहराया था कि वह नागरिक की जबतक चाहे काम करने की आजादी पर आघात करता है। अदालत ने कहा था कि मेहनत बेचने और खरीदने का अधिकार संविधान द्वारा गारंटी की गयी आजादी का ही एक हिस्सा है। पर दिलचस्प बात यह है कि इस राय के पक्ष में पाँच मत थे और उसके विरुद्ध चार, यानी यह बात सर्व-सम्मति से तब भी स्वीकृत नहीं हुई थी। किन्तु १९०८ में अदालत ने ओरेगन राज्य के कुछ धन्धों में मजदूर स्त्रियों के लिए अधिक-से-अधिक दस घण्टे काम करने के नियम को सर्व-सम्मति से उचित ठहराया (**मुलर बनाम ओरेगन** २०८ सं० रा० ४१२), और १९१७ में तीन के विरुद्ध पाँच मतों से उसी राज्य में पुरुषों के लिए भी अधिक-से-अधिक दस घण्टे काम करने के नियम को वैध माना ( **बंटिंग बनाम ओरेगन** २४३ सं० रा० ४२६)।

संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के इतिहास में इस तरह के उदाहरण बहुत से मिल सकते हैं, और संविधान की व्याख्या के कार्य में न्यायाधीशों के सामने पैदा होनेवाली समस्याओं के बारे में सातवें अध्याय में और भी कुछ कहा जायगा। यहाँ जिस बात पर जोर देने की जरूरत है वह यह है कि संविधान में अनिश्चित शब्दों में, तथा उचित मतभेद के लिए पर्याप्त सम्भावना के रहते, अधिकारों की घोषणा शामिल करने से न्यायाधीशों के ऊपर बड़ी कठिन जिम्मेदारी आ जाती है। यदि अदालतें इस शब्दावली की व्याख्या करने के कर्त्तव्य से बचने का प्रयत्न करें और अधिकाधिक इस बात का हठ करें कि 'आजादी' अथवा 'न्यायोचित मुआवजा' या 'भाषण की स्वतन्त्रता', या 'राज्य की सुरक्षा' या 'सार्वजनिक हित' आदि का सही अर्थ बताना विधानमण्डलों का कर्त्तव्य है—और जैसा अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के १९४० वाले फैसले से प्रगट है, अदालतों का रवैया सचमुच ऐसा ही है—तो फिर अवश्य यह प्रश्न उठता है कि अधिकारों की ऐसी घोषणाओं का महत्व ही क्या है? क्या इससे हम फिर विधानमण्डल के आत्म-संयम अथवा जनमत की नियन्त्रणकारी शक्ति की ओर ही वापस नहीं लौटते? कम-से-कम एक सबक तो स्पष्ट है। यदि ऐसी घोषणाएँ करनी ही हों तो उनकी भाषा स्पष्ट और सुनिश्चित होनी चाहिये।

अदालतों द्वारा संविधान में अधिकारों की घोषणाओं को लागू करने की माँग करने से जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं उनको महसूस करने के कारण कभी-कभी कुछ

संविधान-निर्माता यहीं फैसला कर लेते हैं कि अधिकारों की घोषणा को कम-से-कम इस अर्थ में तो कानूनी नियम न माना जाय कि अदालतों से उनको स्वीकार करने और लागू करने की माँग की जाय, बल्कि उन्हें वांछनीय आदर्शों के कथन के रूप में लिया जाय। यह योजना आयरिश संविधान के निर्माताओं ने स्वीकार की थी और फिर बाद में भारतीय संविधान-निर्माताओं ने भी उसी का अनुसरण किया। इस भाँति आयरिश संविधान की धारा ४५ का शीर्षक है "सामाजिक नीति के निर्देशक सिद्धान्त" और इस धारा के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त मोटे तौर पर विधानमण्डल की सहायता के लिए हैं। "उन सिद्धान्तों का उपयोग कानून बनाते समय केवल विधानमण्डल ही करेंगे, और कोई अदालत इस संविधान के किसी उपबन्ध के अन्तर्गत उनका उपयोग न करेगी।" इसी तरह का निर्देश भारतीय-संविधान के चौथे भाग में 'राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत मिलता है। इसका यह अर्थ है कि यदि किसी नागरिक को लगे कि विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत कोई कानून, अथवा कोई कानून बनाने में विधानमण्डल की शिथिलता, इनमें से किसी निर्देशक सिद्धान्त के विपरीत है, तो वह उस कानून को अवैध घोषित कराने के लिए अथवा वह कानून बनाने के लिए विधानमण्डल के नाम अध्यादेश निकलवाने के लिए किसी अदालत की शरण नहीं ले सकता। इन धाराओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इन तमाम बातों में अदालतों को घसीटना मूर्खता होगी। किन्तु फिर यह बात समझ में नहीं आती कि जब इन उपबन्धों को अदालतों के हस्तक्षेप से निकाल लिया गया है तो फिर अन्य इतने ही अस्पष्ट उपबन्ध क्यों अदालतों के हस्तक्षेप की सीमा में रखे गये हैं।

कुल मिलाकर इस बात पर सन्देह प्रगट किया ही जा सकता है कि अगर संविधान के प्रति जनता के मन में आदर और स्नेह होना जरूरी समझा जाता है तो फिर संविधान में कहीं भी ऐसे गोलमटोल सिद्धान्तोंवाले अंश जोड़ने से कोई लाभ है भी या नहीं। यदि संविधान को गम्भीरता-पूर्वक लेना हो तो नीति-सम्बन्धी इन सामान्य उद्देश्यों की व्याख्या और पूर्ति में अदालतों और विधानमण्डलों के लिए बड़ी भारी कठिनाइयाँ पैदा हो जायँगी और इन कठिनाइयों से संविधान, अदालतों और विधानमण्डलों के बीच परस्पर संघर्ष पैदा होगा और

उनकी बदनामी भी होगी। और यदि इन घोषणाओं की उपेक्षा ही करनी है, यदि उन्हें शब्दमात्र ही मानना है, तो फिर उनसे संविधान का गौरव कम होगा।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि संविधान में किसी प्रकार के अधिकारों की घोषणा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस मामले में संयुक्त राज्य का अनुभव उपयोगी है। यद्यपि अमरीकी संविधान ने सरकार के ऊपर कुछेक प्रतिबन्ध अस्पष्ट शब्दों में लगाये हैं, पर साथ ही उसने कुछेक अधिकारों की घोषणा बड़ी सावधानी से और सुनिश्चित शब्दों में करने का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। पन्द्रहवें संशोधन में लिखा है: "संयुक्त राज्य के नागरिकों का मतदान का अधिकार संयुक्त राज्य अथवा किसी भी राज्य द्वारा, जाति अथवा रंग-भेद के कारण अथवा पिछली दासता की अवस्था के कारण, छीना अथवा कम नहीं किया जा सकेगा।"

इससे अधिक स्पष्ट भाषा नहीं हो सकती। तो भी १८७० में पन्द्रहवें संशोधन के स्वीकार होने के बाद से आजतक अमरीका का इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी सुस्पष्ट और श्लेषहीन भाषा में रखने पर भी इस बात का पक्का भरोसा होना कठिन है कि जो समाज अधिकारों के प्रति उदासीन अथवा विरुद्ध है उसमें उनको सफलतापूर्वक उपयोग में लाया जा सकेगा। यह बात तो सभी जानते हैं कि अमरीकी संघ के कुछेक दक्षिणी राज्यों में नीग्रो लोगों के मतदान के अधिकार का व्यवहार में बहुत ही कम उपयोग होता है। जब भी कानून द्वारा इस अधिकार के उपयोग को सीमित करने का प्रयत्न हुआ है, इन नियमों की वैधता को संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय में परखा जा सका है और इस प्रकार बहुत से राज्यों के कानूनों को अवैध घोषित किया जा चुका है। किन्तु अन्ततः इन अधिकारों का उपयोग समाज द्वारा इनको बर्दाश्त करने अथवा उनकी रक्षा करने की स्वीकृति पर ही निर्भर होता है, और बहुत से दक्षिणी राज्यों में इस स्वीकृति का अभाव है।

संयुक्त राज्य इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है कि अधिकारों की घोषणा के प्रश्न पर विचार करते समय संविधान-निर्माताओं को किस धर्मसंकट का सामना करना पड़ता है। यदि वे ऐसे लोगों के लिए संविधान बना रहे हैं जो अधिकारों का सम्मान करते हैं तो फिर संविधान में अधिकारों की विस्तार से घोषणा करना अनावश्यक है—साधारण कानून में उनकी स्वीकृति अधिक लचीली और उतनी

ही सफल होगी। दूसरी ओर अगर वे ऐसे लोगों के लिए संविधान बना रहे हैं जिनके अधिकारों का सम्मान करने की सम्भावना नहीं है, तो फिर संविधान में कुछेक अधिकारों की घोषणामात्र से क्या उनके सफलतापूर्वक उपयोग में अधिक सहायता होगी? उस हालत में क्या साधारण क़ानून की प्रक्रिया द्वारा तथा समझाने-बुझाने के रास्ते से धीरे-धीरे बढ़ना अधिक कारगर न होगा?

संयुक्त राज्य के अनुभव से यह सिद्ध है कि इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। इतिहासकारों में इस बात पर मतभेद रहेगा, किन्तु इस पर जोर देना बेबुनियाद नहीं है कि पन्द्रहवें संशोधन में अधिकारों की घोषणा से नीग्रो जाति के अधिकारों की रक्षा में कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य मिली है, चाहे वह सहायता नकारात्मक ही क्यों न हो। उसके कारण राज्य के कानूनों को अवैध करार देने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में अपील करना सम्भव हो गया है, उसने काँग्रेस को भी यह अधिकार दे दिया है कि इन अधिकारों को राज्यों में लागू करने के लिए कानून बना सके। यह तो मानी हुई बात है कि सर्वोच्च न्यायालय, काँग्रेस अथवा कार्यकारिणी के काम बहुत दूर तक नहीं जाते; दक्षिणी राज्यों में नीग्रो जाति के मतदान के अधिकार के उपयोग की अन्तिम गारंटी उन राज्यों में इस उद्देश्य का साथ देनेवाले जनमत के तैयार होने में ही है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस सम्बन्ध में संविधान की घोषणा एकदम व्यर्थ सिद्ध हुई। साथ ही जिस हद तक संविधान की गारंटी का निष्क्रिय और निष्फल होना सर्वविदित है उस हद तक संविधान की शक्ति और मान्यता पर धक्का लगता है।

ये सब बातें यदि संयुक्त राज्य जैसे देश में हो सकती हैं जहाँ संविधान और सर्वोच्च न्यायालय के लिए बड़ा भारी आदर है, जहाँ संविधान की शब्दावली अनिश्चित होते हुए भी उसकी व्याख्या कार्यकारिणी द्वारा नहीं, बल्कि अदालतों के द्वारा होती है, और जहाँ का जनमत मुखर भी है और संगठित थी, तो फिर जिन जातियों में संविधान से अधिक कार्यकारिणी का रोब है, जहाँ लोगों को संगठित होने की सुविधा नहीं है, या जहाँ जनमत तैयार करने के लिए न तो उनके पास पर्याप्त जानकारी ही है न क्षमता ही, उन जातियों में प्राधिकारों की घोषणा व्यवहार में शब्दाडम्बर से अधिक न होने की सम्भावना अधिक रहेगी।

इसलिए किसी आदर्श संविधान में अधिकारों की घोषणाएँ या तो होंगी ही नहीं अथवा बहुत ही कम होंगी, यद्यपि आदर्श कानून-व्यवस्था में बहुत में अधिकारों का निर्देश और उनकी गारंटी मौजूद होगी। संविधान में अधिकारों की घोषणा केवल चरम और प्रतिबन्धहीन शब्दों में ही की जा सकती है; या फिर उनके ऊपर इतने प्रतिबन्ध लगाने पड़ेंगे कि वे निरर्थक हो जायँगे—और इसके हम बहुत से उदाहरण देख चुके हैं। अधिकारों की सावधानी के साथ व्याख्या सबसे अच्छी तरह से स्वयं साधारण कानून में ही की जा सकती है, बल्कि उसमें यह गारंटी और है कि विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत होने के कारण कानून अधिकतर प्रमुख जनमत के अनुरूप ही होगा।

संविधान को राज्य की प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करनेवाले नियमों मात्र के वक्तव्य तक सीमित रखना अनावश्यक रूप से कठोर जान पड़ता है। यह बात यहाँ तुरन्त कह देनी चाहिये कि संविधान की प्रस्तावना, जो स्वयं संविधान का अंग नहीं होती और इसीलिए कानून का भी अंग नहीं होती, न केवल उचित है बल्कि वह वांछनीय भी है। इस मामले में अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने १७८७ में ही अपने दस्तावेज का आरम्भ इस एक ओजस्वी और दृढ़तापूर्ण वाक्य से किया था : "हम संयुक्त राज्य के निवासी एक अधिक अखंड संघ बनाने के लिए, न्याय और घरेलू शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए, सम्मिलित सुरक्षा के प्रबन्ध के लिए, सर्वसाधारण की भलाई के लिए और अपनी तथा अपने बाद की पीढ़ियों की स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए, अमरीका के संयुक्त राज्यों के इस संविधान की व्यवस्था (ordain) और स्थापना करते हैं।" चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान-निर्माताओं ने अधिकारों की घोषणा की समस्या को—जो फ्रांस के संविधान-निर्माण का एक ऐतिहासिक और परम्परागत अंग है—उसे संविधान की प्रस्तावना में शामिल करके सुलझाया और 'अपने युग के लिए सबसे आवश्यक' राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों की एक सूची घोषित करके संतोष कर लिया।

अधिकांश संविधानों में प्रस्तावना अवश्य होती है। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने जो प्रस्तावनाएँ राष्ट्रमण्डल के समुद्रपारवाले देशों के लिए तैयार की हैं वे आमतौर पर एकदम तथ्यात्मक हैं जिनमें अधिनियम के स्वीकृत होने का विस्तार से विव-

रण भर रहता है। अन्य देश अधिक भावात्मकता और वाग्विदग्धता से काम लेते हैं। अधिकांश जनता का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं। आयरलैण्ड ने 'परम पवित्र त्रिमूर्त्ति' का नाम लिया है, 'जिससे ही कि समस्त प्रभुता उत्पन्न होती है और जिसे अपने चरम लक्ष्य के रूप में, हमें अपने व्यक्तिगत और राजकीय सारे कार्यों का भार सौंप देना चाहिये।' स्विट्ज़रलैण्ड के संविधान की प्रस्तावना भी परमात्मा का नाम लेकर शुरू होती है और सोवियत संविधान में प्रस्तावना है ही नहीं।

किन्तु प्रस्तावना होना ठीक और उचित होते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि संविधान प्रथमतः एक कानूनी दस्तावेज है। उसका उद्देश्य है कानून के सर्वोपरि नियमों का निर्देश करना। इसलिए उसमें यथासम्भव सम्पूर्णता के साथ केवल कानूनी नियमों का निर्देश ही होना चाहिये, मतामतों, आकांक्षाओं, आदेशों और नीतियों का वक्तव्य नहीं। इसके अतिरिक्त यदि उसमें कानून के नियमों का निर्देश करना है, और विशेष रूप से यदि वे नियम ऐसे सर्वोपरि कानून होते हैं जो विधान-मण्डल, कार्यकारिणी और न्याय-पालिका को समान भाव से मान्य हों—और जैसा हम देख चुके हैं अधिकांश संविधानों का प्रमुख उद्देश्य यही है—तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि ये नियम थोड़े हों, सामान्य हों, और आधारभूत हों। वे ऐसे विषयों से सम्बन्धित होने चाहिये जिनको कानूनी नियम के रूप में रखने और नियन्त्रित करने का प्रयत्न समुचित और शोभन हो। और अन्त में, उसकी भाषा, कुछ बातों में अनिवार्य रूप से सामान्य और व्यापक होते हुए भी, यथासम्भव अर्थ-बहुलता, भावुकता तथा पक्षपात-पूर्णता से मुक्त होनी चाहिये।

यदि यह वांछनीय है कि संविधान लोगों के मन में न केवल ऐसा आदर उत्पन्न करे जो कानून के प्रति साधारणतः होता है, बल्कि उसके साथ-साथ सर्वोच्च विधि के उपयुक्त विशेष भक्ति का भाव जाग्रत करे, तो निश्चय ही उसके क्षेत्र से जहाँतक सम्भव हो सके वे तमाम बातें निकाल देनी चाहिये जिन्हें कानूनी नियम बनाना अभिप्रेत नहीं है। कम-से-कम जो लोग संविधान-सम्बन्धी कानून के अंग्रेजी दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षित हुए हैं, वे तो अवश्य ही संविधान को इसी दृष्टिकोण से देखते हैं। पर संविधान के विषय में लिखनेवाले सभी लेखक इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करेंगे। बहुत से लोग संविधान को सर्वोपरि कानूनी नियमों के समुच्चय से बड़ी

चीज मानते हैं। उसे प्रायः, और कभी-कभी तो सब से पहले, एक प्रकार के राज-नीतिक घोषणापत्र, पंथ अथवा संहिता के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि इस रूप में वह लोगों के मन में ऐसे आदर और स्नेह को, बल्कि वास्तव में आज्ञाकारिता की भावना उत्पन्न करता है जिसकी निरे कानूनी दस्तावेज के प्रति होने की कभी आशा नहीं की जा सकती। इसलिए अब इस बात की ओर ध्यान देना रोचक होगा कि संविधान का वास्तव में ठीक-ठीक प्राधिकार ( authority) क्या है।

---

## ४ : संविधान का अधिकार क्या है

गृहयुद्ध प्रारम्भ होने के पहले अमरीका में एक तीव्र विवाद चल पड़ा था। उसके दौरान में दास-प्रथा के एक प्रमुख विरोधी विलियम हेनरी सेवार्ड ने संयुक्त राज्य की सिनेट में घोषणा की थी : "संविधान से बड़ा भी एक कानून होता है।" सन्दर्भ से निकालकर इस वाक्य को दास-प्रथा के समर्थक और विरोधी दोनों उछालने लगे। उनके लिए इसका अर्थ यह था कि अगर संविधान दास-प्रथा को स्वीकार करे और उसकी रक्षा करे, तो उसके आदेश दास-प्रथा के विरोधियों के लिए अनिवार्य रूप से मान्य नहीं हैं। यह ऐसा अर्थ था जो संविधान के कानूनी और नैतिक दोनों प्रकार के अधिकार को नष्ट करता था। सेवार्ड ने एक बुनियादी प्रश्न उठा दिया था कि आखिर संविधान का अधिकार है क्या। यह प्रश्न कानूनी भी है और नैतिक भी। यहाँ उसके कानूनी पक्ष की थोड़ी चर्चा से प्रारम्भ करना सर्वोत्तम होगा।

किन परिस्थितियों में संविधान को कानूनी अधिकार प्राप्त होता है? कानून का परिपालन करनेवाले, विशेषकर अदालतों में कानून का परिपालन करनेवाले, किस कसौटी से यह कहते हैं कि संविधान नामक कोई दस्तावेज कानून का ही एक अंश है? इस प्रश्न का साधारण उत्तर तो यही जान पड़ता है कि उसे किसी एक ऐसी संस्था ने कानून का रूप दिया है, स्वीकृत किया है या घोषित किया है जिसको कानून बनाने का अधिकारी माना जाता है। पर क्या संविधान बनने के

पहले कोई ऐसी अधिकारी संस्था हो सकती है, जो कानून बना सके ? क्या विधान-निर्माण करनेवाली संस्थाओं को स्वयं संविधान ही नहीं जन्म देते ? स्पष्ट है कि एक ऐसी संस्था की कल्पना आवश्यक है जो संविधान को कानून बनानेवाली संस्थाएँ बनाने का अधिकार देने के पहले ही स्वयं संविधान को कानून का दर्जा दे सके। ये प्रथम और आदिम विधान-निर्माता कौन हैं ? अलग-अलग जातियों में इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग है।

एक अपेक्षाकृत सरल दिखाई पड़नेवाले उदाहरण से शुरू करें। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के देशों के अधिकांश संविधानों की कानूनी प्रामाणिकता का आधार इस बात में है कि उनका अधिनियम अथवा प्रख्यापन या तो ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा, अथवा परिषदस्थ राजा द्वारा, अथवा इन दोनों संस्थाओं में से किसी-न-किसी के अधिकार द्वारा हुआ है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अधिकांश भागों में यह बात कानूनी नियम के रूप में मान्य है कि पार्लियामेंट को, अथवा कुछ परिस्थितियों में परिषदस्थ राजा को ऐसे कानून बनाने का अधिकार है जो राष्ट्रमण्डल के समुद्रपारवाले देशों पर लागू हो सकें और वहाँ उन्हें पूरा कानूनी दर्जा प्राप्त हो। इसलिए यदि हम यह प्रश्न करें कि ऑस्ट्रेलिया, नाइगेरिया, न्यूज़ीलैंड, केन्या, लंका, कनाडा अथवा जमैका के संविधानों को किस आधार पर इन देशों में कानूनी दर्जा प्राप्त है, तो इसका उत्तर यही है कि कानून के दृष्टिकोण से वे ब्रिटेन में बनाये गये थे। उनको कानूनी अधिकार ऐसी शक्ति से मिला है जो उनके पहले से मौजूद थी और जो उनसे पृथक् है। इस प्रश्न का कि ब्रिटिश अधिराज्य अथवा उपनिवेश के संविधान का क्या अधिकार है, एक वकील का उत्तर यही होगा। वकील लोग ब्रिटेन की पार्लियामेंट अथवा परिषदस्थ राजा के आज्ञापत्र द्वारा प्रदान किये गये अधिकार को पर्याप्त मानते हैं।

परन्तु ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सभी देश अपने संविधान का कानूनी अधिकार 'इंगलैण्ड में बना' होने भर के आधार पर मानने से संतुष्ट नहीं होते। आयरलैण्ड-वासी जब १९२२ में अपना संविधान बनाने लगे तो शीघ्र ही इस सिद्धान्त से उनकी टक्कर हो गयी। १९२२ में उन्होंने एक ऐसे निकाय का निर्वाचन किया जिसने स्वाधीन आयरिश राज्य का संविधान बनाया। इस निकाय ने घोषणा की कि इसे अपना अधिकार भगवान् से और जनता से प्राप्त हुआ है, और उसने अपने

'असंदिग्ध अधिकार का उपयोग करते हुए' यह प्रनिश्चय तथा अधिनियमन किया कि उसका बनाया हुआ संविधान 'स्वाधीन आयरिश राज्य का संविधान माना जायगा'। इस निकाय के सदस्यों की राय में इस संविधान को कानून का दर्जा इसलिए प्राप्त था कि उसे उन लोगों ने बनाया है जिन्हें संविधान बनाने का अधिकार जनता ने दिया है। ब्रिटेन ने यह दावा स्वीकार नहीं किया। ब्रिटिश मत यह था कि उपर्युक्त संविधान बनानेवाली निकाय वेस्टमिंस्टर में पार्लियामेंट के एक अधिनियम के प्राधिकार द्वारा—**आयरिश फ्री स्टेट एग्रीमेंट ऐक्ट १९२२** द्वारा—निर्वाचित हुई है और उसे संविधान के अधिनियमन का अधिकार प्राप्त नहीं है। आयरिश निकाय द्वारा तैयार होने के बाद आयरलैण्ड में कानून का दर्जा प्राप्त करने के लिए उस संविधान का वेस्टमिंस्टर में पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत और विधि-सम्मत होना आवश्यक है। इसलिए स्वाधीन **आयरिश फ्री स्टेट कॉंस्टीट्यूशन ऐक्ट १९२२** द्वारा यह कार्य पूरा किया गया। इस अधिनियम की प्रस्तावना में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उपर्युक्त आयरिश निकाय की संविधान का अधिनियमन करने की क्षमता के बारे में ब्रिटिश मत क्या है। इस अधिनियम में आयरिश निकाय द्वारा प्रस्तुत सामग्री को 'एक उपाय' बताया गया है, 'अधिनियम' नहीं, और आयरिश निकाय को साफ-साफ 'स्वाधीन आयरिश राज्य समझौता अधिनियम के आदेशानुसार स्थापित' बताया गया है। आयरिश संविधान के अधिकार-स्रोत के बारे में इन दोनों मतों की दूरी कभी कम नहीं हो सकती। हमारे उद्देश्य के लिए इस विवाद में पड़ना अनावश्यक है कि कानून के अनुसार कौन-सा दृष्टिकोण अधिक उचित है। उनका महत्व इस बात में है कि स्वाधीन आयरिश राज्य के संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रमण्डल के संवैधानिक कानून में एक ऐसे विधिदाता की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया जो उस समय—और आज भी—ब्रिटिश कानून के लिए अपरिचित था। वह विधिदाता है जनता।

१९३७ में आयरलैण्ड के निवासियों ने एक नया संविधान बनाया और इस बार उनकी स्थिति पिछली बार की अपेक्षा कम दुविधापूर्ण थी। प्रस्तावित संविधान को उनकी संसद ने स्वीकृत तो किया था पर उसका अधिनियमन नहीं; इस भाँति यह कहना असम्भव हो गया कि उसको कानूनी स्थिति ऐसी संसद से प्राप्त हुई है जिसे स्वयं अपना प्राधिकार मूलतः वेस्टमिंस्टर की पार्लियामेंट से प्राप्त हुआ

था। इसके बजाय आयरिश संसद की स्वीकृति के बाद उसे जनता के सामने रख दिया गया और बहुमत से उसका समर्थन प्राप्त होने के बाद ही उसे आयरलैण्ड में कानूनी दर्जा दिया गया। और उसमें प्रारम्भ में ही मुक्त कण्ठ से यह घोषणा है: "हम, आयरलैण्ड के निवासी···इस संविधान को स्वीकार करते हैं, उसका अधिनियमन करते हैं और उसे अपने आपको प्रदान करते हैं।"

आयरलैंड ने ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को १९४९ में छोड़ा, पर १९५० के भारतीय संविधान का दावा भी यही है कि उसे अपना अधिकार जनता से प्राप्त हुआ है। वह भी इन्हीं शब्दों से शुरू होता है: "हम भारतवर्ष के निवासी···आज २६ नवम्बर १९४९ के दिन अपनी संविधान-सभा में इस संविधान को स्वीकार करते हैं, उसका अधिनियमन करते हैं और उसे अपने आप को प्रदान करते हैं।" 'हम ···के निवासी', ये शब्द हमें फिर से सर्वप्रथम तथा, व्यवहार में, सबसे प्राचीन संविधान की ओर वापस ले जाते हैं। अमरीका निवासियों ने अपने संविधान की सुन्दर प्रस्तावना इन्हीं शब्दों से शुरू की है: "हम संयुक्त राज्यों के निवासी··· संयुक्त राज्य के लिए इस संविधान की रचना तथा स्थापना करते हैं।"

अधिकांश आधुनिक संविधानों ने अमरीकी संविधान तथा उसके पीछे निहित कानूनी तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया है। जनता को, अथवा उसकी ओर से कार्य करनेवाली संविधान सभाको, संविधान के अधिनियमन का अधिकार है। यह कथन केवल कथन भर नहीं है। इसे कानून के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्वाधीन आयरिश राज्य की अदालतें १९२२ के संविधान को जनता द्वारा अधिनियमित मानती थीं, और आयरलैंड की अदालतें १९३७ के कानून को भी उसी दृष्टि से देखती हैं। संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय यह मानता है कि जनता ने ही संविधान को कानून का दर्जा दिया है। **मैकुलोच बनाम मेरीलैण्ड** १८१९ ( ४ ह्वीटन, ३१६ ) के एक प्रारम्भिक मुकदमे में मुख्य-न्यायाधीश मार्शल ने कहा था: "सरकार सीधे जनता से उत्पन्न होती है···जनता के ही नाम में 'रचित और स्थापित' होती है;···रूप और विषयवस्तु दोनों ही उसे जनता से मिलते हैं। उसके अधिकार जनता के ही दिये हुए होते हैं, और उन्हें उसी के हित में तथा उसी के ऊपर काम में लाया जाता है···वह सबकी सरकार होती है; उसके अधिकार सबके सौंपे हुए होते हैं, वह सबका प्रतिनिधित्व करती है

और सभी के लिए कार्य करती है।"

विधि-दाता के रूप में जनता के इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ पहले महा-युद्ध के बाद आया जब जर्मन, रूसी और ऑस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्यों के परास्त होने के बाद नये संविधान बनाये गये। प्रत्येक नये संविधान ने घोषणा की कि उसे कानून का दर्जा जनता से प्राप्त हुआ है। वाइमार संविधान इन शब्दों से शुरू होता था : "जर्मन जनता ने···अपने आप को यह संविधान दिया है।" इसी तरह के शब्द दूसरे संविधानों में भी मिलते हैं। "हम चेकोस्लोवाक राष्ट्र के निवासी··· चेकोस्लोवाक प्रजातन्त्र के लिए निम्नलिखित संविधान स्वीकार करते हैं।" "एस्टो-निया की जनता ने···नीचे लिखा संविधान अपनी संविधान-सभा के द्वारा तैयार करके स्वीकार किया है।" "हम पोलैंड राष्ट्र के निवासी···पोलिश प्रजातन्त्र की विधान-सभा में इस संवैधानिक कानून का अधिनियमन और उसकी स्थापना करते हैं।" दूसरे महायुद्ध के बाद जनता की संविधान बनाने की क्षमता पर वैसा ही जोर न था। चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान में जनता की प्रभुता की घोषणा तो है, पर वह प्रभुता संविधान द्वारा स्थापित संस्थाओं द्वारा ही कार्य रूप में लायी जा सकती है, और संविधान को चालू करने में जनता के स्थान का निर्देश 'फ्रांसीसी जनता ने स्वीकार किया है' वाक्य द्वारा किया गया है। १९४६ के यूगोस्लाविया के संविधान का अधिनियमन संविधान-सभा द्वारा हुआ। पर पश्चिमी जर्मनी के संघीय प्रजातन्त्र के संविधान में यह घोषणा की गयी है कि 'जर्मनी की जनता ने अपनी संविधान-निर्माण की क्षमता का उपयोग करते हुए जर्मनी के संघीय प्रजा-तन्त्र के इस मौलिक कानून का अधिनियमन किया है।'

संविधानों के अध्ययन से जो बात स्पष्ट होती है वह यह है कि एकदम कानूनी दृष्टिकोण से तो उनको कानूनी अधिकार इसलिए प्राप्त है कि वे ऐसे निकाय द्वारा अधिनियमित हुए हैं जिसे कानूनी दर्जा प्रदान कर सकने का अधिकारी माना जाता है। यह निकाय या तो कोई बाहरी विधान-निर्मात्री निकाय होती है जैसे इंगलैंड की पार्लियामेंट, या वह उस प्रदेश की जनता स्वयं होती है, या वह किसी-न-किसी रूप में जनता द्वारा चुनी हुई संविधान सभा होती है जिसका संविधान स्थापित करने का प्राधिकार मान्य हो चुका होता है।

इन निष्कर्षों के महत्व पर विचार करने से पहले इस विषय में कुछ और जाँच-

पड़ताल करना शायद अधिक उपयोगी हो। अधिकांश संविधान न केवल कानून होने का बल्कि सर्वोपरि कानून होने का दावा करते हैं। यह दावा कैसे उचित है ? किस युक्ति से यह कहा जा सकता है कि संविधान का कानून संविधान द्वारा स्थापित विधान-सभाओं द्वारा बनाये गये कानून से अधिक श्रेष्ठ होता है ? यह स्मरण रहे कि यहाँ हम यह प्रश्न कानून की दृष्टि से ही पूछ रहे हैं।

इस प्रश्न के उत्तर मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं। पहला उत्तर तो वह है जिसे परिस्थिति के तर्क पर आधारित माना जा सकता है। उसके अनुसार संविधान के स्वरूप में ही यह निहित है कि वह स्वयं अपनी बनायी हुई संस्थाओं से उच्चतर है। संविधान का मूल सिद्धान्त ही यह है। वह कोई साधारण कानून नहीं होता। बहुत बार तो वह विधानमण्डल से बना ही पहले होता है, पर यदि ऐसा न भी हो तो तर्क की दृष्टि से तो वह पूर्ववर्त्ती है ही। उसका कार्य है संस्थाओं का नियन्त्रण, सरकार का संचालन। उसको उसी प्रकार से तथा उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लिया जा सकता जिस तरह से कुत्तों को पालने के लायसेंस के कानून को लिया जाता है !

एक बार फिर प्रधान न्यायाधीश मार्शल के कुछ शब्द, जो उन्होंने **मारबरी बनाम मैडीसन** ( १ क्रांच १३७ ) के मामले में १८०३ में कहे थे, इस युक्ति को यथासम्भव स्पष्टता के साथ रखते हैं। उन्होंने कहा था : "निस्सन्देह जो लोग लिखित संविधानों का निर्माण करते हैं वे उन्हें देश के बुनियादी तथा सर्वोच्च कानून के रूप में ही देखते हैं, और इसलिए ऐसी प्रत्येक सरकार का सिद्धान्त यही होना चाहिये कि विधानमण्डल का कोई भी अधिनियम संविधान के विपरीत होते ही अवैध हो जाता है।"

"जिन लोगों को नियन्त्रित करने के लिए सीमाएँ बनायी जाती हैं यदि वे उनका उल्लंघन करने लगें तो फिर उन अधिकारों के सीमित करने का और उन सीमाओं को लिखित रूप में रखने का उद्देश्य ही क्या है ? वे सीमाएँ जिन व्यक्तियों पर लगायी जाती हैं, यदि उनको बाध्य न करें, और यदि वर्जित तथा अनुमत कार्यों की बाध्यता बिल्कुल एक-सी हो, तो फिर सीमित और असीमित अधिकारों की सरकारों के बीच का अन्तर ही मिट जाता है। यह बात तो स्वतःसिद्ध है कि संविधान अपने विरुद्ध पड़नेवाले प्रत्येक वैधानिक अधिनियम का नियन्त्रण करता

है; या फिर विधानमण्डल किसी भी साधारण अधिनियम द्वारा संविधान में परि-वर्त्तन कर सकता है। इन दो सम्भावनाओं के बीच का कोई रास्ता नहीं है। संविधान या तो ऐसा उच्चतर, सर्वोपरि कानून है जिसे साधारण उपायों से नहीं बदला जा सकता, या फिर उसका दर्जा अन्य साधारण कानूनों जैसा है जिसमें विधानमण्डल जब चाहे अपनी मर्जी से परिवर्त्तन कर सकते हैं। यदि पहली सम्भावना ठीक है तो संविधान के विरुद्ध पड़नेवाला विधानमण्डल का कोई अधिनियम कानून नहीं माना जा सकता; और यदि दूसरी सम्भावना ठीक है तो लिखित संविधान बेकार हैं, वे ऐसी शक्ति को बाँधने के जनता के निरर्थक प्रयत्नों से अधिक कुछ नहीं हैं, जो स्वभावतः ही बाँधी नहीं जा सकती।"

इस तर्क के अनुसार यदि कोई संविधान अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं के, जिनमें विधानमण्डल भी शामिल हैं, अधिकारों को सीमित करता है, तो उसके नियमों को इन संस्थाओं द्वारा जारी किये गये नियमों तथा कार्यों से उच्चतर माना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई निष्कर्ष निकालना संविधान को तथा संविधान-निर्माण के कार्य को निरर्थक बना देना ही है।

एक और भी तर्क है जिसके द्वारा संविधान का उच्चतर कानूनी दर्जा सिद्ध किया जाता है। वह यह है कि संविधान ऐसे निकाय की उपज है जिसे सर्वोपरि कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। यहाँ पर वे तीन प्रधान निकाय फिर प्रगट हो जाती हैं जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं—ब्रिटिश पार्लियामेंट जैसा बाहरी सर्वोपरि विधानमण्डल, जनता अथवा कोई संविधान-सभा।

जहाँ तक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत संविधानों का प्रश्न है उनमें से अधिकांश को उच्चतर कानून का दर्जा प्राप्त है, और उन्हें यह दर्जा इस बात से मिला है कि उनका अधिनियमन ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा अथवा परिषदस्थ राजा द्वारा हुआ है। क्योंकि ऐसा अधिनियमन संविधान को न केवल कानून का दर्जा प्रदान करता है, बल्कि ऐसी शक्ति भी प्रदान करता है जिससे संविधान का कानून किसी स्थानीय विधानमण्डल द्वारा बनाये गये कानून से उच्चतर माना जाता है। इसलिए यदि हम यह प्रश्न पूछें कि ऑस्ट्रेलिया के राष्ट्रमण्डल का संविधान राष्ट्रमण्डल की संसद से उच्चतर क्यों है और राष्ट्रमण्डल तथा राज्य दोनों की सरकारों के अधिकारों को क्यों सीमित करता है, तो उसका उत्तर यही है कि वह इंगलिस्तान

की पार्लियामेंट का अधिनियम होने के कारण सर्वोपरि है। ऑस्ट्रेलिया की अदालतें इसी नियम को स्वीकार करती हैं।

१९३१ तक ब्रिटिश साम्राज्य भर में यह व्याख्या सर्वमान्य थी कि इंगलिस्तान की पार्लियामेंट यदि उचित समझे तो समुद्रपार के अधिराज्यों और उपनिवेशों के लिए भी मान्य कानून बना सकती है और उसके बनाये हुए ऐसे कानूनों को इन देशों में सर्वोपरि कानून का दर्जा प्राप्त होगा। धीरे-धीरे इंगलिस्तान और अधिराज्यों के बीच बराबरी का दर्जा पैदा होने के साथ-साथ यह विचार पैदा हुआ कि ब्रिटेन की पार्लियामेंट की कानूनी सर्वोपरिता और अधिराज्यों की, कानून की दृष्टि से भी तथा वास्तव में भी, स्वाधीन होने की इच्छा के बीच परस्पर समझौता करने के लिए कुछ किया जाना चाहिये। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किये गये उनमें से एक यह भी था कि १९३१ में **स्टैच्यूट ऑफ वेस्टमिंस्टर** स्वीकृत हुआ। इसके परिणामस्वरूप यह मान लिया गया कि इंगलिस्तान की पार्लियामेंट अधिराज्य की माँग और स्वीकृति के बिना उस पर लागू होनेवाला कोई कानून नहीं बनायेगी। इतना ही नहीं, साथ ही यह भी मान लिया गया कि अधिराज्य पर लागू होने वाले ब्रिटिश पार्लियामेंट के किसी भी कानून में अधिराज्य की संसद द्वारा संशोधन किया जा सकेगा। इसका मतलब था कि इसके बाद वेस्टमिंस्टर में अधिराज्यों के लिए बनाये गये कानूनों को वही दर्जा प्राप्त होगा जो स्वयं अधिराज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाये गये कानूनों को प्राप्त है, सर्वोपरिता अथवा श्रेष्ठता की स्थिति अब नहीं रहेगी।

किन्तु यदि यह सिद्धान्त अधिराज्यों में किसी शर्त्त के बिना लागू किया जाता तो यह भय था कि इसके बड़े चौंका देने वाले परिणाम निकलेंगे। अधिराज्यों के संविधान सारे-के-सारे ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनाये हुए थे। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिराज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाये गये कानूनों को संविधान के बराबर का ही दर्जा प्राप्त हो जाता। उनमें साधारण वैधानिक कार्रवाई से संशोधन करना भी सम्भव हो जाता। वे सर्वोपरि न रहते, क्योंकि उनकी सर्वोपरिता ब्रिटिश पार्लियामेंट के कानूनों को प्राप्त एक विशेष स्थिति पर आधारित थी, जिसे अब वेस्टमिंस्टर संविधि के कारण मानना आवश्यक न रहता। किन्तु इस परिणाम से सारे अधिराज्य आशंकित न थे। दक्षिणी अफ्रीका का संघ विशेष रूप से

इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए बिल्कुल तैयार था कि उसके संविधान को ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनाया हुआ अधिनियम होने के कारण जो श्रेष्ठता प्राप्त थी वह खत्म हो जाय। पर न्यूज़ीलैंड, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया ऐसा कोई परिवर्त्तन करने के लिए आतुर न थे। न्यूज़ीलैंड का तो यह रुख था कि परिस्थिति यथावत् ही बनी रहे और १९४७ में जाकर ही न्यूज़ीलैंड के संविधान की सर्वोपरिता खत्म हुई और यह सम्भव हो सका कि न्यूज़ीलैंड की संसद की साधारण वैधानिक कार्रवाई से उसमें संशोधन किया जा सके। कनाडा और ऑस्ट्रेलिया की स्थिति न्यूज़ीलैंड से भिन्न थी। एक बात तो यही थी कि जहाँ न्यूज़ीलैंड का संविधान एकात्मक था वहाँ कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के संविधान संघात्मक थे। इसलिए उनके लिए अपने संविधानों की सर्वोपरिता बनाये रखना जरूरी था। अपने संविधानों को सर्वोपरि रखने के लिए उन्होंने निश्चय किया कि जहाँ तक संविधान में संशोधन का प्रश्न है वेस्टमिंस्टर संविधि उनके ऊपर लागू नहीं होगी। इस भाँति परिणाम यह हुआ कि वेस्टमिंस्टर संविधि अधिराज्यों पर लागू तो हुई है, पर कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के लिए स्वयं संविधि में एक विशेष अनुबन्ध रखा गया है जिससे संविधानों के ऊपर वह लागू न हो सके।

इस प्रश्न पर इतने विस्तार से विवेचन करना जरूरी समझा गया है, क्योंकि अधिराज्यों के स्वशासन प्राप्त करने के अनुभव से यह समस्या एकदम सामने आ गयी है कि संविधान को सर्वोपरि कानूनी प्राधिकार कैसे प्रदान किया जा सकता है। ऐसा दावा किस बुनियाद पर किया जा सकता है? पुरानी व्यवस्था में जबतक ब्रिटिश पार्लियामेंट के कानून की सर्वोपरिता सर्वमान्य थी, तब तक कोई कानूनी कठिनाई नहीं थी। पर जब स्वशासन प्राप्त हो गया तो बाधाएँ पैदा होने लगीं। ऐसा लगने लगा कि किसी भी अधिराज्य के लिए संविधान को सर्वोपरि रखने का एक ही उपाय है कि वह अपने संविधान पर "ब्रिटेन में बना" की छाप लगाये रखने में संतुष्ट रहे। किन्तु दूसरी ओर क्या यह कानूनी अर्थ में पूर्ण स्वराज्य का निषेध नहीं है? वास्तव में कनाडा और ऑस्ट्रेलिया आज तक इस विरोधाभास को स्वीकार करते आये हैं। कानून की दृष्टि से उनके संविधान की सर्वोपरिता इसी बात पर आधारित है कि उसका अधिनियमन एक ऐसे बाह्य विधानमण्डल ने किया था जिसके कानूनों को कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के विधानमण्डलों द्वारा बनाये गये कानूनों से

उच्चतर स्थान प्राप्त है।

यह कहा जा सकता है कि जो समस्या यहाँ उठायी गयी है उसका केवल किताबी महत्व ही है। किन्तु वास्तव में यह एक ऐसी बात है जिसका ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के सदस्यों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने में बड़ा योग है। कुछ लोगों के लिए केवल व्यवहार में स्वशासित और स्वाधीन होना पर्याप्त नहीं है; वे कानून की दृष्टि से भी वैसे होना चाहते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के निवासी भी यदि अपनी संविधान की सर्वोपरिता बनाये रखना चाहते, तो समस्या बड़ी जटिल हो जाती। पर कनाडा और ऑस्ट्रेलिया यदि अपने संविधान की सर्वोपरिता की रक्षा करते हुए साथ-ही-साथ ब्रिटिश पार्लियामेंट की कानूनी श्रेष्ठता की छाप से भी मुक्त होना चाहते तो क्या उपाय था? इसके दो उपाय हो सकते हैं। पहला तो यह है कि वे उसी मुक्ति का सहारा लें जिसका उल्लेख हमने शुरू में ही किया था—तार्किक युक्ति, **मारबरी बनाम मैडीसन** वाले मामले में न्यायाधीश मार्शल की युक्ति। कानून की दृष्टि से उनके संविधानों का वही दर्जा होता जो अन्य कानूनों का है, पर अदालतें यह बात स्वीकार कर लेतीं कि संविधान शासन सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करते हैं और उनके अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित करते हैं, इसलिए वे सीमाएँ सर्वमान्य होनी चाहिये। इस अवस्था में संविधानों को अन्य कानूनों की तुलना में प्राथमिकता दी जाती, ऐसी प्राथमिकता जो संविधानों की शर्तों पर और संविधानमात्र के स्वरूप पर ही आधारित होती। यह एक बुद्धिगम्य व्याख्या है और शायद एकदम नयी भी नहीं है, क्योंकि वास्तव में वह एक प्रकार से न्याय-विषयक व्याख्या में निहित सिद्धान्तों को एक नये क्षेत्र में—यद्यपि निश्चय ही बहुत बड़े क्षेत्र में—लागू करना ही है। उससे निश्चय ही कानून के इतिहास में कोई व्यतिक्रम नहीं पैदा होता।

दूसरे उपाय में कानूनी अर्थ में क्रान्ति नहीं तो कम-से-कम एक क्रम-भंग की सम्भावना तो है ही। संविधान की कानूनी सर्वोपरिता को जनता की इच्छा पर अथवा स्वयं जनता द्वारा संविधान-निर्माण का अधिकार-प्राप्त संविधान-सभा की इच्छा पर आधारित किया जा सकता है। अन्ततः कानून की दृष्टि से अमरीकी संविधान की सर्वोपरिता के आधार में एक तत्त्व यह भी है ही। संविधान की सर्वो-परिता न केवल **मारबरी बनाम मैडीसन** वाले मामले में दी गयी न्यायाधीश की

तर्कसम्मत युक्ति पर आधारित हो सकती है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि जनता द्वारा बनाया गया कानून उसके कार्यवाहकों द्वारा, उसकी इच्छा से स्थापित सरकार द्वारा, बनाये गये कानून से श्रेष्ठतर है। अलेक्जैण्डर हैमिल्टन ने फ़ेडरेलिस्ट में इस बात पर भली भाँति प्रकाश डाला है। उसने लिखा है: "किसी दूसरे से प्राप्त प्राधिकार द्वारा निर्देशित कोई भी कार्य अथवा नियम यदि प्राधिकार देनेवाली सत्ता के विपरीत हो तो वह अवैध हो जाता है। यह मान्यता जिन सिद्धान्तों पर आधारित है उनसे स्पष्टतर सिद्धान्त और नहीं हो सकते। इसलिए संविधान-विरोधी कोई भी कानून वैध नहीं हो सकता। इससे इन्कार करना यह कहने के बराबर है कि सहायक अपने प्रधान से बड़ा होता है, अथवा नौकर अपने मालिक से बड़ा होता है, अथवा जनता के प्रतिनिधि स्वयं जनता से उच्चतर होते हैं। बल्कि इसका मतलब यह हुआ कि किसी अधिकार के बल पर किसी व्यक्ति को ऐसे काम करने की सुविधा हो जो न केवल उसके अधिकार में नहीं है, बल्कि जिसका उसके अधिकारों में निषेध है।" अन्त में उसने लिखा है कि 'संविधि की अपेक्षा संविधान, जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा की अपेक्षा स्वयं जनता की इच्छा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक संविधान का प्रश्न है विधि-दाता के रूप में जनता की सर्वोपरिता संयुक्त राज्य में मान्य है। वास्तव में वह अधिकांश देशों में मानी जाती है। किन्तु ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों में उसे चालू करना एक नयी बात है। वहाँ की जनता, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सर्वोपरि विधि-दाता होने की बात तो दूर रही, अभी तक एकदम विधि-दाता ही नहीं थी। किन्तु तो भी यह नयी बात वहाँ चल पड़ी है। १९५० के भारतीय संविधान की तथा १९३७ के आयरिश संविधान की सर्वोपरिता इसी बात से पैदा होती है कि उसका जनता की इच्छा का परिणाम होने का दावा है। भारतवर्ष का संविधान वास्तव में जनता के सामने स्वीकृति के लिए नहीं रखा गया था, इसलिए उसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि अपनी संविधान-सभा में जनता ने उसका निर्माण किया है। किन्तु आयरिश संविधान तो वास्तव में जनता के आगे मतदान के लिए रखा गया था और वह उनके समर्थन के परिणामस्वरूप ही स्वीकृत हुआ।

तो फिर राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्य इस बात का अनुसरण क्यों नही करते?

आयरलैण्ड तो उसके बाद से राष्ट्रमण्डल का सदस्य नहीं रहा, किन्तु प्रजातन्त्र होने पर भी भारतवर्ष की सदस्यता उन तमाम सदस्यों द्वारा स्वीकृत और समर्थित हुई है जिनको संविधानों की कानूनी वैधता और उनकी सर्वोपरिता जनता के अधि-नियमन द्वारा नहीं बल्कि ब्रिटेन की पार्लियामेंट के अधिनियमन द्वारा प्राप्त है। स्पष्ट ही राजनीतिक कारणों से ऐसा किया जा सकता है और सम्भव है भविष्य में फिर भी किया जाय। किन्तु कानून की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि यह कार्य पिछले इति-हास से सम्बन्ध-विच्छेद करने के बराबर है। यह सम्बन्ध इस बात में तो इतना साफ नहीं झलकता कि राष्ट्रमण्डल का कोई सदस्य प्रजातन्त्र बन जाय; किन्तु जब वह राजा के अधिराज्यों का भाग नहीं रहता और इसलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट के अधिकारक्षेत्र से बाहर चला जाता है तो यह सम्बन्ध-विच्छेद स्पष्ट उभर आता है। पर मान लीजिये कि यदि कनाडा एक राज्य भी रहना चाहता और अपने संवि-धान की कानूनी सर्वोपरिता केवल कनाडा की जनता की इच्छा के ऊपर निर्भर रखना चाहता, तो उससे भी कानून की दृष्टि से एक ही अस्तित्व होते हुए भी कानून की अविच्छिन्नता में अवश्य व्यतिक्रम हो जाता। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कानून जातियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप बनाये जाते हैं, और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्दर भी आवश्यक सिद्ध होने पर कानूनी धारणाओं में बुनियादी परिवर्त्तन किये जा सकेंगे और प्रमुख आकांक्षाओं के अनुरूप ही कानून को ढाल लिया जायगा।

इस विवेचन में इस बात पर भी अवश्य ध्यान जाता है कि इन कानूनी धार-णाओं में बहुत-सी केवल कानूनी कल्पनाएँ जान पड़ती हैं। 'जनता' ने आयर-लैण्ड का संविधान बनाया, पर वास्तव में संविधान को केवल बहुमत का समर्थन प्राप्त हुआ था। भारतवर्ष में 'जनता' ने 'अपनी संविधान सभा' में संविधान का अधिनियमन किया, पर वह सभा भारतीय जनता के अल्पमत द्वारा निर्वा-चित प्रतिनिधियों की थी और स्वयं संविधान को सीधे जनता के सामने समर्थन के लिए कभी नहीं रखा गया। कम-से-कम क्या यह कहना अयथार्थ नहीं है कि 'जनता' संविधान सभा 'में' अथवा 'द्वारा' संविधान की रचना करती है? वास्तव में ऐसा बहुत कम ही होता है कि जो संविधान कहने के लिए जनता के नाम से अधिनियमित होता है उसके समर्थन के लिए जनता की भी राय ली जाय।

इसके अतिरिक्त एक बार संविधान का अधिनियमन हो जाने के बाद, जनता के सामने समर्थन के लिए रखा जाने पर भी, वह न केवल अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं को बल्कि स्वयं जनता को भी बन्धन में बाँध लेता है। वह यदि चाहे, और यदि इसकी अनुमति हो, तो संविधान में संशोधन कर सकती है, पर केवल उन्हीं उपायों से जिनका स्वयं संविधान ने निर्देश कर दिया है। चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान की धारा ३ में यह बात बड़ी अच्छी तरह रखी गयी है। उसमें लिखा है :

"राष्ट्रीय प्रभुता फ्रांसीसी जनता के हाथ में है। जनता का केवल कोई एक अंश अथवा कोई एक व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर सकता। संविधान सम्बन्धी मामलों में जनता उसका उपयोग अपने प्रतिनिधियों के मतदान द्वारा और जनमत ग्रहण (referendum) द्वारा करेगी। बाकी तमाम मामलों में वह इसका प्रयोग अपने राष्ट्रीय विधान-सभा के प्रतिनिधियों द्वारा करेगी जो सार्वजनिक, समान, प्रत्यक्ष और गुप्त मतदान द्वारा चुने गये होंगे।"

संविधान के प्राधिकार के कानूनी आधार की इस मोटी-सी रूपरेखा के बाद अब उसके नैतिक आधार की ओर ध्यान देना आवश्यक है। विलियम एच० सेवर्ड ने जब कहा था कि संविधान से भी बड़ा एक कानून होता है, तो वह इस नैतिक आधार की ओर ही संकेत कर रहा था। वास्तव में यह राजनीतिक बाध्यता के स्वरूप और आधार के सम्बन्ध में बड़ी भारी और ऐतिहासिक चर्चा का विषय है और स्पष्ट ही कुछेक पृष्ठों में उसका समुचित विवेचन कर सकना सर्वथा असम्भव है। अधिक-से-अधिक यह किया जा सकता है इन प्रश्नों के, जो अभी तक मतभेद का विषय बने हुए हैं, जितने भी उत्तर आज तक दिये गये हैं उनमें से कुछेक की मोटी रूपरेखा का निर्देश करने का प्रयत्न किया जाय।

यदि हम यह प्रश्न करें कि कानून के रूप में संविधान किस नैतिक आधार का दावा कर सकता है तो उत्तर यही हो सकता है कि उसे वही प्राधिकार प्राप्त हो सकता है जो किसी समाज में समस्त कानूनों को प्राप्त होता है। कानून की आज्ञा-पालन के स्वरूप को निश्चित और निर्धारित करने के लिए जिस नीति-सिद्धान्त का सहारा लिया जायगा वही संविधान के लिए भी लागू होगा। पर हम इससे भी आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि संविधान की बाध्यता का एक अति-

रिक्त आधार और भी है। वह अपने स्वभाव से ही साधारण कानून मात्र नहीं है। वह आधारभूत कानून है, वह उस आधार को प्रस्तुत करता है जिस पर कानून बनाये और लागू किये जाते हैं। वह कानून और व्यवस्था की पहली आवश्यक परिस्थिति है। वास्तव में इस कथन के पीछे नैतिक युक्ति है कि संविधान की आज्ञा का पालन इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह स्वभाव से ही उच्चतर अथवा सर्वोपरि कानून है। नैतिक क्षेत्र में इस युक्ति का वही स्थान है जो कानूनी क्षेत्र में न्यायाधीश मार्शल की **मारबरी बनाम मैडीसन** वाले मामले की तर्कसम्मत युक्ति का था। संविधान की अवज्ञा उतनी ही आसानी से नहीं की जा सकती जितनी आसानी से कुत्ते पालने से सम्बन्धित कानून की। वह राजनीतिक व्यवस्था के मूल में स्थित है; यदि उसकी अवज्ञा की गयी तो फिर अराजकता और अव्यवस्था आने में देर न लगेगी।

जिस प्रकार कानूनी क्षेत्र से संविधान के सर्वोपरि कानून होने की तर्कसम्मत युक्ति की पुष्टि इस बात से हुई कि चाहे प्रत्यक्ष रूप से हो अथवा संविधान-सभा के माध्यम से, सर्वोपरि विधि-दाता स्वयं जनता है; उसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में भी कभी-कभी यह कहा जाता है कि संविधान की आज्ञा का पालन इसलिए अनिवार्य है क्योंकि वह जनता की इच्छा को व्यक्त करता है। जनता ने जो कुछ निर्धारित किया है, प्रत्येक व्यक्ति उसे मानने के लिए बाध्य है।

इन सिद्धान्तों पर विचार करते ही बहुत से प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए क्या हम यह निष्कर्ष निकालें कि अमरीकी संविधान बुनियादी कानून है तथा—जैसी स्वयं उसकी घोषणा है और अदालतों का भी कहना है—उसका अधिनियमन जनता द्वारा हुआ है, इसीलिए संयुक्त राज्य का प्रत्येक नागरिक नैतिक दृष्टि से उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य है? अब्राहम लिंकन का बहुत कुछ ऐसा ही कहना था। अमरीकी गृहयुद्ध में पृथक होने वाले राज्यों को सम्बोधन करते हुए उसने कहा था: "संवैधानिक बन्धनों और सीमाओं को मानकर चलनेवाला तथा जनता के मतामत तथा भावनाओं के परिवर्त्तन के अनुरूप आसानी से अपने आपको बदलता रहनेवाला बहुमत ही स्वाधीन जनता का एकमात्र सच्चा शासक है। जो भी इस बात का उल्लंघन करता है वह अनिवार्य रूप से या तो अराजकता में जाकर गिरता है अथवा निरंकुशता में।"

लिंकन का कहना था कि जनता को संविधान में परिवर्त्तन करने का अधिकार प्राप्त है और वह स्वाधीनतापूर्वक कॉंग्रेस के लिए तथा अपने राज्य के और स्थानीय शासन के लिए अपने प्रतिनिधि चुन सकती है; इसलिए उसे संविधान की वर्त्तमान रूप में ही आज्ञा पालन करनी चाहिये और साथ ही यदि वह उसमें संशोधन करना चाहती है तो उसके लिए अथक परिश्रम करते रहना चाहिये।

यह बात यहाँ स्वीकार की जा सकती है कि जिस संविधान में संशोधन का अधिकार जनता को है उसका जनता से आज्ञाकारिता की अपेक्षा करना उस संविधान की तुलना में प्रत्यक्षतः कहीं अधिक संगत है जिसे जनता बदल ही नहीं सकती। पर किसी देश में ऐसे समूह की स्थिति पर तनिक विचार कीजिये जो अल्पमत में है, और अल्पमत में ही नहीं बल्कि स्थायी रूप से अल्पसंख्यक है। वह कभी इस बात की आशा नहीं कर सकता कि जिस तरह से वह चाहता है उस तरह से संविधान में परिवर्त्तन हो सकेगा अथवा जिन परिवर्त्तनों से उसका विरोध हो उन्हें वह रोक सकेगा। यदि बहुमत को समझाने के उसके सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हों तो फिर उसके लिए क्या उपाय है ? क्या उसे हार ही मान लेनी चाहिये ? लिंकन के कथनानुसार तो निष्कर्ष यही निकलता है कि हार मान लेनी चाहिये। और वास्तव में उसने दक्षिणी राज्यों के स्थायी अल्पसंख्यकों से यही बात कही भी थी कि उन्हें संविधान को स्वीकार कर लेना चाहिये और उसके द्वारा स्थापित संघ से उन्हें अलग न होना चाहिये।

क्योंकि लिंकन की युक्ति अमरीकी गृहयुद्ध में शस्त्रबल से विजयी हुई और क्योंकि उसके विरोधी अल्पसंख्यक दासता जैसी प्रथा के समर्थक थे जिसे हम नैतिक दृष्टि से अक्षम्य मानते हैं, शायद हमारे लिए यह सोचना आसान हो कि लिंकन की युक्ति हर परिस्थिति के लिए सत्य है। पर क्या हम वास्तव में यह कह सकते हैं कोई स्थायी रूप से अल्पसंख्यक समुदाय अपनी इच्छित वस्तु संविधान से प्राप्त न कर सके तो भी उसे सदा संविधान की आज्ञा का पालन करते ही रहना चाहिये ? इसका उत्तर निर्विवाद रूप से नकारात्मक है। ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें विद्रोह करना, संविधान की आज्ञा मानने से इन्कार कर देना, उसे उलट देना नैतिक दृष्टि से उचित है। यह सही है कि संविधान किसी भी जाति के कानून और व्यवस्था का आधार होता है, पर केवल कानून और व्यवस्था ही तो

सब कुछ नहीं है। कानून और व्यवस्था का अच्छा होना भी बहुत जरूरी है। निश्चय ही इस परिस्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें अल्पसंख्यकों का यह कथन सही हो कि वे ऐसे संविधान के अन्तर्गत रहते हैं जिसने अनुपयुक्त सरकार की स्थापना कर रखी है और यदि बाकी सब उपाय निष्फल सिद्ध हों तो विद्रोह करना ही उचित है। निस्सन्देह यह कहना कठिन है कि ठीक किस समय विद्रोह उचित होता है तथा कितना विद्रोह उचित होता है, पर वह कभी-कभी न्यायोचित हो सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

किन्तु यदि नागरिक संविधान की अवज्ञा कर सकते हैं तो क्या सरकार भी ऐसा कर सकती है? यह दिलचस्प बात है कि यहाँ अब्राहम लिंकन ने ऐसी युक्ति का सहारा लिया जो उसकी दक्षिणी राज्यों को सम्बोधन करते समय प्रयोग की गयी युक्ति से तनिक विपरीत पड़ती है। उसने कहा कि यह सम्भव है कि समूचे संविधान की रक्षा के लिए उसके किसी एक अंश की अवज्ञा अथवा उपेक्षा करना सरकार के लिए आवश्यक हो जाय। वह अपने उन आलोचकों को उत्तर दे रहा था जो उसपर यह आरोप लगाते थे कि उसने संविधान के विरुद्ध **हैबियस कॉर्पस** (व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के शासनपत्र) के अधिकार का अन्त कर दिया है। लिंकन का उत्तर यह था कि यदि वह संघ के कुछ शत्रुओं को नजरबन्द न करता तो स्वयं संघ ही खत्म हो जाता; यदि उसने संविधान के एक छोटे से अंश की अवज्ञा न की होती तो बाकी सारा-का-सारा ही उलट जाता। उसने कहा : "क्या एक कानून की रक्षा के लिए बाकी सब का उपयोग बन्द कर दिया जाय और समूची सरकार को छिन्न-भिन्न हो जाने दिया जाय?" यह निश्चय ही बड़ी खतरनाक युक्ति है, बल्कि नागरिकों के विद्रोह करने के अधिकार से कहीं अधिक खतरनाक है। तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसी परिस्थितियाँ निश्चय ही आ जाती हैं जब संविधान की रक्षा के लिए उसके एक अंश को भंग करना, अथवा संविधान में जो कुछ उत्तम है उसको बचाने के लिए उसके बुरे अंश की उपेक्षा करना सरकार के लिए नैतिक दृष्टि से उचित होता है। किसी भी संविधान की तमाम धाराएँ तथा उपधाराएँ, किसी भी अन्य कानून की तमाम धाराओं की भाँति ही, एक-से मूल्य और महत्व की नहीं होतीं। ऐसे अवसर आ जाते हैं जब सरकार को इस बात का निश्चय करना पड़े कि किसे बचाया जाय और किसे नष्ट हो जाने दिया जाय।

इन समस्याओं पर प्रायः इस दृष्टि से विचार किया जाता है मानो मुख्य खतरा यह हो कि बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यकों के न्यायपूर्ण अधिकारों को कुचल न दे। किन्तु इस बात की ओर ध्यान दिलाना भी जरूरी है कि ऐसे संविधानों में भी उतनी ही समस्याएँ पैदा होती हैं जिनमें बहुसंख्यक समुदाय तो परिवर्त्तन करना चाहता है, पर संविधान की शर्त्तों के कारण अल्पसंख्यक उस परिवर्त्तन को रोकने में सफल हो जाते हैं। इस परिस्थिति की सम्भावना संयुक्त राज्य में है; वह ऑस्ट्रेलिया, डेनमार्क अथवा स्विट्ज़रलैंड जैसे संविधानों में भी है। तो क्या ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हो सकतीं जिनमें इस बहुसंख्यक समुदाय द्वारा संविधान का उल्लंघन नैतिक दृष्टि से उचित हो?

संविधान के नैतिक प्राधिकार के प्रश्न पर उस राजनीतिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है जिसके अनुसार प्राकृतिक नियम के आधार पर, प्राकृतिक नियम से प्राप्त मानवीय अधिकारों के आधार पर, सरकार के अधिकारों की सीमा निर्धारित होनी चाहिये। सरकार का अस्तित्व कुछेक अधिकारों की रक्षा के लिए है। उसके कार्यों का औचित्य-अनौचित्य इसी बात से निर्धारित हो सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्त्ति उनसे किस हद तक होती है। जिस हद तक एक संविधान प्राकृतिक नियम के अनुसार शासन की स्थापना करता है उसी हद तक वह आज्ञाकारिता का दावा करने का अधिकारी है। संविधान का जो अंश किसी सरकार को ऐसे अधिकार दे दे जो प्राकृतिक नियम के अनुसार उचित न हों, वह अवैध है। जॉन लॉक ने अपने **सेकन्ड ट्रीटिज़ ऑफ़ सिविल गवर्नमेन्ट** नामक ग्रन्थ में प्राकृतिक अधिकारों के अनुरूप विद्रोह की न्यायोचितता का उल्लेख स्मरणीय भाषा में किया है। "जब भी किसी जनसमुदाय अथवा अकेले व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण हो, अथवा वे ऐसी शक्ति के अधीन हो जायें जिसको इस बात का अधिकार न हो, और इस धरती पर उनकी सुनवाई की गुंजाइश न रहे, तो जब भी वे अपने उद्देश्य को पर्याप्त रूप से महत्वपूर्ण समझें, तब उन्हें भगवान से अपील करने की स्वाधीनता है।" आगे : "तमाम अधिकार किसी उद्देश्यप्राप्ति के लिए तथा किसी विश्वास के आधार पर दिये जाते हैं और उस उद्देश्य द्वारा सीमित होते हैं इसलिए जब भी उस उद्देश्य की स्पष्टतःउपेक्षा होती है अथवा विरोध होता है तो उसके विश्वास का आधार नष्ट हो जाता है,

और वे अधिकार फिर उन्हीं के पास लौट आते हैं जिन्होंने उन्हें दिया था, और वे चाहें तो उन अधिकारों को नये सिरे से ऐसी जगह प्रतिष्ठित कर सकते हैं जो उन्हें अपनी सुरक्षा और बचाव के लिए सर्वोत्तम जान पड़े।" सरकार को मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों द्वारा सीमित मानने का यह दृष्टिकोण अमरीकी संविधान की भी बुनियाद में है और जैसा हम देख चुके हैं, बहुत से अन्य आधुनिक संविधानों में भी उसको स्थान दिया गया है। वह एक ऐसा नैतिक आधार प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार किसी सरकार के कार्यों की अच्छाई-बुराई की जाँच की जा सकती है, और इससे भी अधिक, जिसकी कसौटी पर किसी संविधान की वैधता भी परखी जा सकती है। कोई सरकार अथवा नागरिक संविधान के प्राधिकार की अवज्ञा तभी कर सकता है जब उसका कार्य प्राकृतिक कानून के अनुसार न्यायपूर्ण ठहराया जा सके। यह निस्सन्देह संविधान से उच्चतर कानून है।

नैतिक क्षेत्र में इस प्रश्न का उत्तर कि 'संविधान का प्राधिकार क्या है?' कानूनी क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक अनिश्चित और अस्पष्ट होना अनिवार्य है। ऐसे नीतिवादी दार्शनिकों को छोड़कर, जो कहते हैं कि हर परिस्थिति में और हर समय प्रत्येक कानून की पूर्ण रूप से आज्ञा पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, बाकी सबके लिए यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य आ सकती हैं जिनमें संविधान की उपेक्षा करना, अवहेलना करना, या उसे रद करके पलट देना नागरिकों के लिए तथा सरकारों के लिए उचित हो। वे परिस्थितियाँ विभिन्न स्थानों में और विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न ही होंगी। व्यवहार में उनको पहचानना सदा ही कठिन कार्य रहेगा, सिद्धान्त रूप में उनका वर्णन तो और भी कठिन है। पर तो भी इस विषय में कुछ बहुत ही सामान्य बातें कही जा सकती हैं। जो संविधान सर्वथा अपरिवर्त्तनीय है उसकी अवज्ञा की तथा उस अवज्ञा के उचित होने की सम्भावना अधिक है। दूसरी ओर जो संविधान किसी भी संख्यात्मक बहुमत द्वारा आसानी से बदला जा सकता है, उसमें अल्पसंख्यकों के अधिकारों के कुचले जाने की आशंका तथा वास्तव में कुचले जाने की इतनी सम्भावना रहती है कि अल्पसंख्यकों का उसकी अवज्ञा करना उचित हो जाय। इसी भाँति जिस संविधान में अल्पसंख्यकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे बहुसंख्यकों की इच्छा में अनिश्चित काल तक बाधा डालते रह सकें, उसमें भी यह आशंका है कि बहु-

संख्यक अपने न्यायपूर्ण अधिकारों की प्राप्ति के लिए बलपूर्वक संविधान में उलटा-पलटी कर डालें। यह भी सम्भव है कि जो संविधान किसी समय जनता की आवश्यकताओं के पूर्णतः अनुकूल हो, वह समय बीतने के साथ और जाति के सामाजिक ढाँचे में परिवर्त्तनों के साथ पूरी तरह विकृत हो जाय। केवल संविधानों में ही नहीं, बल्कि उनको बदलने की प्रणालियों में भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्त्तन करते रहने की आवश्यकता होती है।

इसलिए संविधान के नैतिक अधिकार का उस समाज के ढाँचे से बड़ा गहरा सम्बन्ध है जिसके कानून और व्यवस्था के आधार वह प्रस्तुत करना चाहता है। संविधान में ऐसी ही शासन-प्रणालियों का समावेश होना चाहिये जिनमें उस जन-समुदाय को विश्वास हो; और उसे उनकी शासन की क्षमता के अनुरूप ढला हुआ होना चाहिये। कागज के ऊपर शब्द लिख देने भर से किसी संविधान को नागरिकों की अथवा सरकार की आज्ञाकारिता का विशेष अधिकार नहीं मिल जाता। किसी जनसमुदाय की क्षमता के अनुकूल सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था स्थापित करनेवाले संविधान के निर्माण की समूची प्रक्रिया ही उस जनसमुदाय के भीतर क्रियाशील सामाजिक शक्तियों के ऊपर आधारित होनी चाहिये। और संविधान के प्रस्तुत होने के साथ ही उसके ऊपर बहुत-सी सामाजिक परिवर्त्तन के पक्ष और विपक्ष में सक्रिय शक्तियाँ प्रभाव डालने लगती हैं। शुरू में अच्छा लगनेवाला संविधान धीरे-धीरे ऐसा बन जाता है जो या तो पहले से अच्छा हो या पहले से खराब। इसलिए अब हमें इन परिवर्त्तन की प्रक्रियाओं पर विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

---

## ५ : संविधान कैसे बदलते हैं : कुछ प्राथमिक शक्तियाँ

संविधान जब बनते और स्वीकृत होते हैं तो वे उस समय के समाज के प्रमुख विश्वासों और हितों को, अथवा परस्पर विरोधी विश्वासों और हितों के बीच किसी सन्तुलन को ही प्रगट करते हैं। साथ ही वे आवश्यक रूप से केवल राजनीतिक अथवा कानूनी सिद्धान्तों तथा हितों को ही व्यक्त नहीं करते। उनमें आर्थिक और सामाजिक विषयों से सम्बन्धित ऐसे निष्कर्ष अथवा समझौते भी निहित हो सकते हैं जिनकी संविधान के निर्माता गारंटी अथवा घोषणा करना चाहते हों। वास्तव में एक संविधान उसके स्वीकार होने के समय की तमाम क्रियाशील राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के समानान्तर चतुर्भुज का परिणामक फल होता है।

यह कहना एक प्रकार के स्वतःसिद्ध सत्य को ही दुहराना हुआ। तो भी इसका उल्लेख और कुछ नहीं तो इस बात की ओर ही ध्यान आकर्षित करने के लिए आवश्यक है कि यदि हम संविधान का महत्व समझना चाहते हैं तो हमें उस 'जनता' नामक शब्द के पीछे देखना चाहिये जिसके द्वारा और जिसके नाम से अधिकांश आधुनिक संविधानों का अधिनियमन होता है। तभी हम इस बात का पता लगा सकेंगे कि अमुक संविधान के निर्माण और स्वीकृत होने के पीछे कौन-सी और कैसी प्रमुख शक्तियाँ थीं। 'जनता' शब्द में अनगिनती हित और मता-

मत छिपे हुए हैं जिनमें से बहुत से तो परस्पर विरोधी हैं। सच पूछा जाय तो 'जनता' अथवा 'समूची जनता' कुछ भी नहीं करती। उसने कभी किसी संविधान का निर्माण नहीं किया और न वह कर ही सकती है; साथ ही उसने एकमत से कभी किसी संविधान का अधिनियमन भी नहीं किया है। परम्परावादी इतिहासकारों की अमरीकी संविधान को जनता की रचना बताने की आदत से तंग आकर ही डाक्टर चार्ल्स ए० बेयर्ड ने १९१३ में अपना एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था **एन इकनॉमिक इंटरप्रटेशन ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ द युनाइटेड स्टेट्स**। इस निबन्ध में उसने इस बात पर जोर दिया कि अमरीकी संविधान का समूची जनता द्वारा निर्माण किया जाना तो दूर की बात है, वह केवल उन संगठित लोगों के कार्य का परिणाम है जिनके आर्थिक हितों को १७७७ की महासंघीय धाराओं द्वारा स्थापित शासनप्रणाली से धक्का पहुँचा था और जो इस बात के लिए कमर कस चुके थे कि अपने उन हितों की रक्षा और उनके विकास में सहायक संविधान का निर्माण करेंगे। डाक्टर बेयर्ड ने संविधान बनानेवाली परिषद के सदस्यों के सम्पत्ति विषयक हितों की जाँच-पड़ताल की; उन्होंने उन लोगों के पत्रों तथा वाद-विवाद में प्रगट होनेवाले उनके विचारों का अध्ययन किया; और उन्होंने इस बात की भी खोज की कि संविधान के स्वीकार होने के पहले जो मतदान हुआ था उसमें सारी जनता ने किस हद तक भाग लिया था। अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३२४-३२५ पर जो कुछ निष्कर्ष इस विषय में उन्होंने लिखे हैं वे इस प्रकार हैं :

"संविधान के निर्माण के लिए सबसे पहले कदम कुछ ऐसे थोड़े से सक्रिय लोगों ने उठाये थे जो अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण अपने परिश्रम के परिणामों में तात्कालिक रूप से दिलचस्पी रखते थे।"

. . . . .

"फिलाडेलफिया कान्फ्रेन्स के सदस्य, जिन्होंने संविधान का मसविदा तैयार किया, कुछ अपवादों के अतिरिक्त सभी, तात्कालिक रूप से, प्रत्यक्षतः और व्यक्तिगत दृष्टि से नयी व्यवस्था की स्थापना में दिलचस्पी रखते थे और उससे उन्हें आर्थिक लाभ भी हुआ।"

. . . . .

"संविधान मूलतः एक आर्थिक दस्तावेज है जो इस धारणा पर आधारित है कि सम्पत्ति के बुनियादी व्यक्तिगत अधिकार सरकार के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हैं और नैतिक दृष्टि से जनता के बहुमत की पहुँच के परे हैं।"

. . . . .

"कान्फ्रेन्स के अधिकांश सदस्यों के इस मत का प्रमाण मौजूद है कि सम्पत्ति को संविधान में एक विशेष तथा सुरक्षित स्थान मिलना जरूरी है।"

. . . . .

"संविधान का अनुमोदन समस्त वयस्क पुरुषों के छठवें भाग से अधिक के मत द्वारा शायद नहीं हुआ होगा।"

डॉ० बेयर्ड की पुस्तक प्रकाशित होते ही उनके निष्कर्षों से एक तरह की खलबली मच गयी थी। किन्तु इसका कोई कारण नहीं समझ में आता। अमरीकी संविधान के मुख पर ही व्यक्तिगत सम्पत्ति में विश्वास की स्पष्ट छाप है; साथ ही उस पर उसके निर्माताओं की इस इच्छा की भी छाप है कि सम्पत्ति की कुछ ऐसे कानूनों से रक्षा की जा सके जिनसे वे पहले नुकसान उठा चुके थे। राज्यों को सिक्के बनाने की, उधार की हुन्डियाँ निकालने की, सोने और चाँदी के सिक्कों के सिवाय और किसी वस्तु को कानूनी सिक्का बनाने की अथवा करार की बाध्यता में रुकावट डालने वाला कोई कानून बनाने की मनाही कर दी गयी है। पाँचवें संशोधन में कहा गया है कि न्यायपूर्ण मुआविजा दिये बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए नहीं ली जा सकेगी। और यदि स्वयं दस्तावेज में इस विषय में कोई सन्देह भी रहा हो तो उस समय के संविधान के समर्थकों ने उसे भी दूर कर दिया था। २३ नवम्बर १७८७ को **फ़ेडरेलिस्ट** में न्यूयार्क निवासियों के आगे संविधान का समर्थन करते हुए जेम्स मैडीसन ने लिखा था कि उसका एक बड़ा गुण यह है कि वह 'कागजी सिक्का बनाने, कर्जों को खत्म करने, सम्पत्ति का समान बँटवारा करने अथवा किसी अन्य अनुचित और दुष्टतापूर्ण योजना में' रुकावटें डालता है। वास्तव में, जैसा कि डॉ० बेयर्ड ने स्वीकार किया है, **फ़ेडरेलिस्ट** 'अपेक्षाकृत संक्षिप्त और व्यवस्थित रूप में संविधान की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, और वह भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो उसके निर्माताओं के आदर्शों से घनिष्ठतापूर्वक परिचित होने के कारण नयी शासन-व्यवस्था के राजनीतिक

सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त थे।'

इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि डॉ० बेयर्ड की पुस्तक बीसवीं सदी के अमरीकियों को उन बातों की याद दिलाने के लिए, जो अठारहवीं शताब्दी के अमरीकियों के लिए सुपरिचित तथा साधारण बातें थीं, सामयिक तथा आवश्यक नहीं थी। पर यह सन्देह होता है कि कहीं उन्होंने अपनी बात को अधिक गहरा रँगकर तो नहीं रखा है। ऐसा भी लगता है कि कान्फ्रेन्स के सदस्यों की सम्पत्ति के स्वरूप और उसकी सीमा पर आधारित और विस्तारपूर्वक उदाहरणों से भरे हुए डॉ० बेयर्ड के निष्कर्षों की अपेक्षा **फ़ेडरेलिस्ट** का विवेचन कहीं अधिक सन्तुलित, विश्वसनीय और सत्य को उद्घाटित करने वाला है। कम-से-कम यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि अधिकांश संविधानों के निर्माण और स्वीकार किये जाने में आर्थिक हितों का भी योग रहता है। पर यह निर्धारित करना कठिन है कि दूसरों की तुलना में इन हितों अथवा शक्तियों की प्रबलता कितनी होती है।

किन्तु पेचीदा ऐतिहासिक विश्लेषण के प्रयत्न में पड़े बिना ही अधिकांश आधुनिक संविधानों और उनसे सम्बन्धित बहस के प्रकाशित विवरणों पर इस बात की छाप देख सकना सम्भव है कि उनमें निर्माताओं के ही हित और विचार निबद्ध हैं, अथवा ऐसे हित और विचार निबद्ध हैं जिनको उनके निर्माता समझते हैं कि संविधान को स्वीकृति देने वाली निकाय मान लेगी। ये हित और विचार समूचे सामाजिक जीवन को अपने भीतर समेटते हैं, और उनमें केवल आर्थिक मामले ही नहीं, बल्कि धार्मिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक अथवा पारिवारिक मामले तक शामिल होते हैं। शायद इसके सबसे सुपरिचित उदाहरण हैं अधिकार-सम्बन्धी घोषणाएँ जो संविधानों में शामिल कर ली जाती हैं, अथवा सामाजिक नीति के निर्देशक सिद्धान्त जो आयरिश तथा भारतीय संविधानों में पाये जाते हैं। सोवियत यूनियन तथा उसकी सीमा के पास वाले प्रजातन्त्रों के संविधानों में आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्तों के वक्तव्य निहित हैं जो वास्तव में नीति-सम्बन्धी घोषणापत्र ही हैं। लगभग दूसरे छोर पर आयरलैण्ड का संविधान है जो किसी धार्मिक सिद्धान्तकार की आर्थिक और अधिकांश सामाजिक शिक्षाओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए डेनमार्क और नॉर्वे के संविधानों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों पर जोर

दिया गया है और न्यायोचित मुआविजा देने से सम्बन्धित शर्तें बड़े जोर से घोषित की गयी हैं।

किसी भी संविधान को ध्यानपूर्वक पढ़ते ही और उसकी उत्पत्ति की परिस्थितियों पर ध्यान देते ही यह बात स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि संविधानों में उनके निर्माताओं के सामाजिक विचारों को निबद्ध करने, प्रगट करने अथवा उनकी रक्षा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। तो भी इस बात पर विचार करने की आवश्यकता इसलिए जान पड़ती है कि बहुत से लोग या तो इस बात-पर बहुत जोर देते हैं या फिर तनिक भी ध्यान नहीं देते। निस्सन्देह इस प्रवृत्ति का कारण यही है कि संविधानों की आर्थिक व्याख्या---अर्थात् यह स्पष्टीकरण कि संविधानों में उनके निर्माताओं की आर्थिक धारणाएँ किस हद तक स्वीकृत अथवा सुरक्षित होती हैं—कुछ लोगों को तो एकमात्र सही तथा सम्भव व्याख्या जान पड़ती है, और कुछ लोगों को एकदम झूठी और अविश्वसनीय। इस पक्ष पर विचार सदा चरम रूप में ही होता है। डॉ० बेयर्ड द्वारा अमरीकी संविधान की जिस व्याख्या का ऊपर उल्लेख हुआ है उसमें इस चरमरूप का अच्छा उदाहरण मिलता है। उसके समर्थकों ने उसका सम्पूर्ण सत्य के रूप में जोरों से स्वागत किया जो उसके लेखक का भी दावा न था; जब कि विरोधियों ने उसको विधान-निर्माताओं के सम्मान पर प्रहार के रूप में ग्रहण किया और उसकी तीव्र निन्दा की। इसलिए यह स्पष्ट शब्दों में कह देना उचित है कि संविधानों पर उनके निर्माताओं की सामाजिक धारणाओं की छाप अवश्य होती है। कभी-कभी वे निर्माताओं के आर्थिक विचारों से ही प्रमुखतया निर्धारित होते हैं, और कभी-कभी यह भी सम्भव है कि वे निर्माताओं के आर्थिक घोषणापत्र से अधिक कुछ न हों। पर प्रत्येक संविधान को ध्यानपूर्वक देखना और उसका विश्लेषण करना बहुत जरूरी है और निष्पक्ष भाव से अध्ययन करना आवश्यक है जो बहुत बार अत्यन्त कठिन और कष्टसाध्य कार्य होता है।

यदि यह कहना कि संविधान अपने युग की उपज होते हैं, घिसी-पिटी बात है, तो यह भी सच है कि युग भी बदलता रहता है। क्या संविधान भी युग के साथ बदलते हैं? वे कितनी शीघ्रता से बदलते हैं और किन पद्धतियों से? ऐसा प्रायः क्यों होता है कि संविधान तथा उस समाज के बीच, जिसकी राजनीतिक

गतिविधियों की व्यवस्था के उद्देश्य से वह बनाया जाता है, बड़ी भारी विसंगति पायी जाती है ? इस अध्याय में तथा परवर्त्ती अन्य अध्यायों में सामाजिक परिवर्त्तन और संवैधानिक परिवर्त्तन के बीच परस्पर सम्बन्ध का विवेचन किया जायगा। साथ ही इस परिवर्त्तन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं, समायोजन स्थापित कर सकने वाली प्रक्रियाओं, और उन प्रक्रियाओं के औचित्य का भी अध्ययन किया जायगा। किन्तु प्रारम्भ में इस बात पर विचार करना दिलचस्प होगा कि ऐसी शक्तियाँ कौन-सी हैं जो संवैधानिक परिवर्त्तन उत्पन्न करती रहती हैं।

यह बात प्रारम्भ में ही कह देना आवश्यक है कि संविधानों में परिवर्त्तन उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ दो में से किसी एक रूप में कार्य करतीं हैं। एक तो यह कि वे परिस्थितियों में परिवर्त्तन पैदा कर दें। इससे संविधान के शब्दों में वास्तविक परिवर्त्तन चाहे न हो, पर इसका यह परिणाम अवश्य हो सकता है कि संविधान का इससे पहले जो अर्थ निकाला जाता था अब उससे भिन्न ही अर्थ निकाला जाने लगे, अथवा संविधान का सन्तुलन बिगड़ जाय। उन शक्तियों के कार्य करने का दूसरा तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप यह है कि वे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दें जिनसे संविधान में परिवर्त्तन करने पड़ें, फिर ये परिवर्त्तन चाहे नियमित संशोधन की पद्धति द्वारा हों, न्यायसम्बन्धी निर्णयों के फलस्वरूप हों, अथवा संविधान की परिपाटी अथया चलन के विकास तथा स्थापना द्वारा। कुछेक उदाहरणों से दोनों रूपों के अंतर को स्पष्ट किया जा सकता है।

जब १७८७ में अमरीकी संविधान बनाया गया तो उसमें संयुक्त राज्य की काँग्रेस को 'विभिन्न राज्यों के बीच' 'वाणिज्य के व्यवस्थापन' का अधिकार दिया गया था। उन दिनों में जब तेरह अमरीकी राज्यों की आबादी घनी बसी हुई न थी और वह मुख्यतः कृषि का धंधा करती थी, तो काँग्रेस के व्यवस्थापन के लिए बहुत-सा 'अन्तर्राज्यिक वाणिज्य' था ही नहीं। पर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में वे तमाम बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए जिन्हें संक्षेप में औद्योगिक क्रान्ति, वाणिज्य-सम्बन्धी क्रान्ति, और शायद सबसे महत्वपूर्ण, भाप के इंजिन, टेलिफोन, टेलिग्राफ तथा रेडियो के आविष्कार से होनेवाली सन्देशवाही साधनों की क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। इन परिवर्त्तनों के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों के बीच वाणिज्य का आकार और महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। संविधान का एक शब्द भी बदले

बिना ही संयुक्त राज्य की काँग्रेस ने अपने 'विभिन्न राज्यों के बीच' 'वाणिज्य के व्यवस्थापन' के अधिकार के द्वारा बहुत-सी ऐसी बातों पर अधिकार प्राप्त कर लिया जो संयुक्त राज्यों की जनता के लिए अधिकतम महत्व की थीं। यह प्राधिकार राज्यों से लिया नहीं गया था; वह उनके पास कभी था ही नहीं। वह शुरू से ही काँग्रेस के ही हाथों में था, परन्तु उसके उपयोग के लिए अधिक अवसर नहीं मिलता था। राज्यों के बीच वाणिज्य में वृद्धि के साथ-साथ संयुक्त राज्य की काँग्रेस के अधिकार में भी वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप संघ तथा उसके अन्तर्गत राज्यों के बीच परस्पर अधिकार के सन्तुलन में भी परिवर्त्तन पैदा हो गया। ऐसे ही परिवर्त्तन आस्ट्रेलिया और कनाडा में भी हुए, पर उसकी सबसे अधिक मात्रा संयुक्त राज्य में ही प्रगट हुई।

ऐसी ही कुछ अन्य शक्तियों की ओर ध्यान देना भी रोचक सिद्ध होगा, जो परिस्थितियों में परिवर्त्तन करके सरकार में केन्द्रीकरण की वृद्धि करती हैं। यहाँ हम इस बात को तो थोड़ी देर के लिए छोड़ ही देंगे कि वे संविधानों में नियमित संशोधन तक आवश्यक बना देती हैं। युद्ध अथवा युद्ध का भय केन्द्रीकरण का बड़ा भारी कारण होता है। सभी संविधानों में सुरक्षा अथवा युद्ध का अधिकार केन्द्रीय सरकार के ही हाथों में सौंपा जाता है, पर निश्चित शान्ति के काल में, विशेषकर जनवादी सरकार वाले देशों में, उसका उपयोग नाममात्र को नहीं तो सीमित तो अवश्य ही होता है। मगर जिन दिनों युद्ध की अफवाहों का बाजार गर्म होता है, और उससे भी अधिक जब युद्ध छिड़ जाता है, तो उस समय केन्द्रीय सरकार का सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार सेना और गोला-बारूद की सीमा से आगे बढ़ कर देश के समूचे जीवन को अपने भीतर समेट लेता है। ऐसा केवल एकात्मक संविधान वाले देशों में ही नहीं होता, बल्कि उन देशों में भी होता है जिनमें संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत मानवीय कार्यों का व्यवस्थापन केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के बीच विभाजित होता है। युद्धकाल में संघात्मक सरकारें भी करीब-करीब एकात्मक रूप ले लेती हैं। और ऐसा संविधान के शब्दों में परिवर्त्तन करके नहीं बल्कि ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों को सुरक्षा-सम्बन्धी अधिकार की सीमा में खींच लेने से होता है जो शान्ति के काल में स्पष्ट ही प्रादेशिक राज्यों के प्राधिकार के अन्तर्गत आतीं।

आर्थिक संकट भी केन्द्रीकरण की ही वृद्धि करता है। यदि संकट मन्दी के कारण पैदा हुआ हो और उसके फलस्वरूप बेकारी फैलने लगे, या अकाल अथवा बाढ़ के कारण पैदा हुआ हो, तो एकात्मक अथवा संघात्मक व्यवस्था में, केवल केन्द्रीय सरकार ही विपत्ति को हलका करने के लिए देश में प्राप्त साधनों पर कब्जा कर सकती है। मन्दीग्रस्त क्षेत्रों को धन की आवश्यकता होती है पर उनकी सरकारें उसे जुटाने में असमर्थ होती हैं। यदि देश में अन्य समृद्ध अथवा कम मन्दीग्रस्त क्षेत्र हों भी तो वे अपने गरीब पड़ोसियों के लिए पैसा जुटाने के उद्देश्य से अपने ऊपर कर नहीं लगायेंगे। यह केन्द्रीय सरकार का ही काम है कि वह अमीरों से अथवा अपेक्षाकृत कम गरीब लोगों से रुपया वसूल करे और कष्टग्रस्त लोगों में बाँटे। आर्थिक संकट का परिणाम प्रायः यह होता है कि स्थानीय, प्रादेशिक अथवा राज्य की सरकारें अपने क्षेत्र की बेकारी में सहायता की समस्या को सुलझाने में सफल नहीं हो पातीं और इसके लिये केन्द्रीय सरकार को अपना अधिकार काम में लाना पड़ता है।

यदि आर्थिक संकट बेकारी और मन्दी के रूप में न प्रगट होकर विदेशी व्यापार की सन्तुलनहीनता में प्रगट हो, तो भी केन्द्रीय सरकार ही अपने अधिकार का प्रयोग करती है, क्योंकि केवल वही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की योजना बनाकर बाहरी दुनिया से व्यापार का नियन्त्रण कर सकती है। इस दृष्टि से बेकारी के रूप में प्रगट होने वाले आर्थिक संकट को सुलझाने के किसी भी प्रयत्न में किसी-न-किसी हद तक केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप अनिवार्य है, क्योंकि केवल वही ऐसी योजनाएँ बनाने अथवा चालू करने का काम कर सकती है जो स्थानीय अथवा प्रादेशिक अधिकारियों की सीमा से बाहर जाती हों। समृद्धि के काल में इन अधिकारों का उपयोग होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत कम। उनका अस्तित्व तक या तो भुला दिया जाता है या ठीक से पहचाना नहीं जाता। पर आर्थिक संकट के समय वे फिर से जीवित हो जाते हैं और बढ़ने लगते हैं; बल्कि सचमुच यहाँ तक होता है कि वे संविधान की समूची योजना को ही ढँक लेते हैं और उसमें उलट-पलट कर देते हैं।

आधुनिक युग में केन्द्रीकरण की एक और भी प्रबल शक्ति है, और वह उन नीतियों की है जिन्हें साधारणतः 'कल्याणकारी राज्य' अथवा 'समाजसेवी राज्य'

के नाम से जाना जाता है। कुछ राज्यों के शासकों ने, विशेषकर उन देशों के शासकों ने जिनमें वयस्क मताधिकार का चलन मौजूद है, यह स्वीकार कर लिया है कि तमाम नागरिकों के लिए न्यूनतम कल्याणकारी सुविधाएँ जुटाना सरकार का कर्त्तव्य है, चाहे उन नागरिकों के पास इन सुविधाओं के लायक साधन हों अथवा न हों। उनको शिक्षा मिलनी चाहिये, स्वास्थ्य सम्बन्धी साधन मिलने चाहिये, तथा बीमारी, बेकारी अथवा वृद्धावस्था में उनके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध होना चाहिये। तमाम प्राप्त अनाज का एक समुचित अंश प्रत्येक नागरिक को ऐसे दामों पर सुलभ होना चाहिये जो उसके लिए चुकाना सम्भव हो। इन नीतियों में दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। एक तो उनको पूरा करने में बहुत धन की आवश्यकता होती है क्योंकि उनके लिए बहुत-सी इमारतों, सामान इत्यादि की जरूरत है, और उनको कार्यान्वित करने के लिए वेतन पाने वाले कार्य-कर्ताओं का—शिक्षकों, नर्सों, डॉक्टरों, प्रशासकों, पर्यवेक्षकों और निरीक्षकों का—एक बड़ा भारी दल भी चाहिये जिसके वेतन का बिल बड़ा लम्बा-चौड़ा होता है। दूसरे, कल्याणकारी सुविधाओं की आवश्यकता साधारणतः ऐसे ही लोगों को अधिक रहती है जिनके पास उन्हें प्राप्त करने के साधन सबसे कम होते हैं। गरीबों, बीमारों और बेकारों को सहायता पहुँचाने के लिए आवश्यक धन अमीर, स्वस्थ तथा रोजगार में लगे लोगों से ही मिल सकता है। केवल केन्द्रीय सरकार ही इस बात का निश्चित प्रबन्ध कर सकती है कि ये कल्याणकारी सुविधाएँ देश में जहाँ भी जरूरत हो प्राप्य हो सकें। तमाम मौजूद सम्पत्ति तक केवल उसी की पहुँच होती है और वही उसको अधिक सम्पन्न नागरिकों अथवा प्रदेशों से निकालकर वहाँ पहुँचा सकती है जहाँ उसकी आवश्यकता अधिक है।

यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि कल्याणकारी राज्य की नीतियाँ जनतन्त्रात्मक देशों में ही विकसित हुई हैं, क्योंकि स्वभावतः ही वे ऐसी नीतियाँ हैं जो बहुसंख्यक जनता को अच्छी लगती हैं। हर पार्टी के राजनीतिज्ञ यदि सचमुच सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं तो कम-से-कम कल्याणकारी राज्य के साधारण सिद्धान्तों को स्वीकार करना तो उनके लिए आवश्यक ही है। इस दृष्टि से जनतन्त्र का विकास एक ऐसी शक्ति है जिसने, मुख्यतः केन्द्रीय सरकार के अधिकारों को बढ़ाकर, संविधानों में परिवर्त्तन किया है। दुनिया के अधिकांश देशों में जनतन्त्र और

केन्द्रीकरण साथ-साथ चलते हैं और बहुत बार दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध रहा है। अलेक्सी द तोकेविले की महान पुस्तक **डिमॉक्रेसी इन अमेरिका** का प्रमुख विषय यही है। उसका कहना है: "जनवादी राष्ट्रों के संविधानों और उनकी आवश्यकताओं मात्र से यह परिणाम निकलता है कि उनकी सरकारों के अधिकार अन्य देशों की अपेक्षा अधिक समान, अधिक केन्द्रित, अधिक व्यापक, अधिक सूक्ष्म और अधिक कुशलता पूर्ण हों।"

जैसा कि द तोकेविले के शब्दों से संकेत मिलता है, सरकार में केन्द्रीकरण की तीव्र प्रवृत्ति के साथ-साथ एक और प्रवृत्ति कार्यकारिणी के अधिकारों में वृद्धि की भी है। शासनप्रणाली में अधिकार-विभाजन में यह परिवर्त्तन कहीं-कहीं वास्तविक संवैधानिक संशोधन द्वारा भी लाया गया है, पर केन्द्रीकरण की वृद्धि की भाँति ही इसका बहुत कुछ श्रेय परिस्थितियों के परिवर्त्तन को है, जिन्होंने अपने आप ही कार्यकारिणी को यह अवसर दिया है कि वह संविधान द्वारा दिये गये अधिकारों का अधिक सम्पूर्णता के साथ उपयोग कर सके। केन्द्रीकरण की वृद्धि के साथ यह तुलना और भी आगे तक जाती है। जिन-जिन शक्तियों ने केन्द्रीकरण में सहायता की है उनमें से लगभग तमाम ने कार्यकारिणी के अधिकारों की वृद्धि में भी सहायता की है। युद्ध और युद्ध का भय, आर्थिक संकट, 'कल्याणकारी राज्य' की नीतियाँ, सार्वजनीन मताधिकार के साथ-साथ जनतन्त्र का विकास और अवसर की समानता की माँग—इन सभी ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं जिनमें कार्यकारिणी के अधिकारों का विस्तार उचित समझा गया है। चाहे समस्या यह हो कि जो भी कार्य करना है वह तुरन्त होना चाहिये अथवा गुप्त रूप से होना चाहिये, या यह हो कि प्रश्न उलझे हुए और अनिश्चित हैं, या यह कि नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए प्रशासकों, योजना निर्माताओं तथा नियन्त्रण-कर्त्ताओं के एक दल की आवश्यकता है—परिणाम सदा यही होता रहा है कि कार्यकारिणी के आकार और उसकी शक्ति में वृद्धि हुई है।

पर दूसरे अन्य कारणों ने भी कार्यकारिणी को शक्तिशाली बनाया है। युद्ध के आधुनिक शस्त्रास्त्रों के विकास ने यह सम्भव बना दिया है कि मुट्ठी भर आदमी अगर तुल जायँ तो करोड़ों निरस्त्र नागरिकों को अपने वश में रख सकते हैं। बारूद के आविष्कार के जमाने से लगाकर आजतक कार्यकारिणी ने फौज और

पुलिस पर अपने नियन्त्रण के कारण अपनी शक्ति बहुत अधिक बढ़ा ली है। किसी देश के ऊपर कार्यकारिणी के नियन्त्रण की वृद्धि में अकेली मशीनगन का हाथ ही बड़ा भारी है। रेडियो तथा अन्य सन्देशवाही साधनों के विकास ने भी कार्यकारिणी को दूसरे प्रकार से शक्तिशाली बनाया है। नागरिकों के ऊपर शासन के इन शक्तिशाली साधनों से लैस होकर कार्यकारिणी की स्थिति आज बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की तुलना में भी कहीं अधिक बदल गयी है। इसी बीच में बहुत से देशों में नागरिक पदाधिकारियों की संख्या और कार्यक्षेत्र के अलावा उनके कौशल और उनकी दक्षता में भी विकास हुआ है जिसने कार्यकारिणी की शक्ति में वृद्धि की है। कर वसूल करने के उन्नत उपाय निकालने का कौशल, हिसाब-किताब रखने के श्रेष्ठतर उपायों का उपयोग, सरकारी दफ्तरों में मशीनों का प्रयोग—ये सब चीजें वैसे बड़ी तुच्छ जान पड़ती हैं, पर एक-एक करके उनसे कार्यकारिणी के शासन की शक्ति में वृद्धि होती है और उनके फलस्वरूप वह अपने अधिकारों का अधिक सफलतापूर्वक उपयोग करने में सफल होती है।

संविधान के व्यवहार पर सब से महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है राजनीतिक पार्टी का। वास्तव में उसका महत्व इतना अधिक है कि संविधान को केवल ढाँचा कहने का लालच होता है; उसे रक्त-माँस प्रदान करती है पार्टी ही; देश के राजनीतिक जीवन को वही उसका जीवन और व्यक्तित्व प्रदान करती है। इस कथन में थोड़ी-बहुत अत्युक्ति भले ही हो पर उसमें बहुत कुछ सचाई भी है। तो भी बहुत ही थोड़े-से संविधानों में प्रत्यक्ष रूप से पार्टी का उल्लेख आता है। उनके निर्माताओं ने कई बार तो पार्टी के अस्तित्व की ओर ध्यान ही नहीं दिया अथवा उसे अवांछनीय समझा। अधिकांश आधुनिक संविधानों में यह मान लिया जाता है कि पार्टी का अस्तित्व है और वह स्वाधीन शासन के लिए आवश्यक भी है; पर यह आवश्यक अथवा वांछनीय नहीं माना जाता कि स्वयं संविधान में उसको स्वीकार किया जाय अथवा उसके नियन्त्रण का निर्देश किया जाय। केवल तथाकथित 'एक पार्टी वाले' राज्यों में ही पार्टी को संविधान में नाम लेकर उल्लेख किये जाने का गौरव प्राप्त है। जैसे सोवियत यूनियन के १९३६ के संविधान की धारा १२६ में यह कहा गया है कि 'मजदूर वर्ग तथा अन्य श्रमजीवी जनता के बीच सबसे सक्रिय तथा राजनैतिक दृष्टि से सबसे सजग नागरिक अखिल संघीय ( बोल्शेविक ) कम्युनिस्ट पार्टी में

शामिल होते हैं। यह पार्टी ही समाजवादी व्यवस्था को दृढ़ तथा विकसित करने के संघर्ष में श्रमजीवी जनता की अग्रिम पंक्ति है और वही श्रमजीवी जनता के तमाम सामाजिक तथा राज्य-सम्बन्धी संगठनों का प्रमुख आधार है।'

संविधान के कार्यान्वित होने में पार्टी के प्रभाव का अनुमान लगाना हमेशा आसान नहीं होता, और वह अलग-अलग देशों में अलग-अलग होता है। संयुक्त राज्य में, जहाँ उसने स्पष्ट ही कार्यकारिणी के हाथ मजबूत किये हैं, वहाँ वह काँग्रेस को भी कार्यकारिणी के विरुद्ध संघर्ष में बल प्रदान करती है और कभी-कभी तो उसके परिणामस्वरूप अमरीकी सरकार करीब-करीब लुंज हो जाती है। उदाहरण के लिए फ्रांस में बहुपार्टी प्रथा से स्पष्ट ही मन्त्रिमण्डल कमजोर पड़ता है। संविधान ने कार्यकारिणी को बड़े व्यापक अधिकार दे रक्खे हैं, किन्तु तो भी वह उनका दृढ़ता अथवा निश्चय पूर्वक प्रयोग नहीं कर सकती क्योंकि उसे पार्टी के निरन्तर अथवा फलदायी समर्थन का भरोसा नहीं रहता। इस भाँति फ्रांस में वास्तविक संविधान से बाह्य राजनीतिक परिस्थितियाँ मन्त्रिमण्डल तथा विधानमण्डल के बीच शक्ति के सन्तुलन को निर्धारित करती हैं। किन्तु योरप के कुछेक अन्य देशों में बहु-पार्टी प्रथा से फ्रांस जैसी अत्यधिक अस्थिरता नहीं पैदा होती। हॉलैंड तथा बेल्जियम में और स्कैण्डीनेवियन देशों में पार्टियाँ अधिक आसानी से संयुक्त सरकारें बनाने को तैयार हो जाती हैं और वे फ्रांस की अधिकांश सरकारों की अपेक्षा कहीं अधिक देर तक टिकी रहती हैं। बहु-पार्टी प्रथा वाले देशों की अपेक्षा उन देशों में जहाँ केवल दो ही पार्टियाँ सत्ता प्राप्त करने की दावेदार होती हैं, मन्त्रिमण्डल अधिक दृढ़ स्थिति में होता है। पर इस आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है। ऊपरी टीमटाम के पीछे कितनी एकता और सम्बद्धता है इसका पता लगाने के लिए पार्टियों के ढाँचे का विश्लेषण करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए कनाडा में बड़ी-बड़ी पार्टियाँ दो ही हैं, किन्तु लिबरल पार्टी को, बहुत दिनों से शासनारूढ़ होते हुए भी, अपने फ्रेंच भाषाभाषी समर्थकों तथा अँग्रेजी भाषाभाषी सहयोगियों के मतभेदों में सामंजस्य पैदा करने के लिए अपने भीतर ही बहुत से समझौते करने पड़ते हैं। कभी-कभी कनाडा का मन्त्रिमण्डल ऐसी सावधानी और समझौते का सहारा लेता है जो आमतौर पर बहु-दली सरकारों में ही पाया जाता है।

संविधान के विकास और परिवर्त्तन में सहायक प्राथमिक शक्ति के रूप में पार्टी के साथ ही निर्वाचत-पद्धति भी जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए स्वीडन जैसे कुछ देशों में निर्वाचन-पद्धति की व्यवस्था करने वाला कानून वास्तव में संविधान का ही अंश है। बहुत से देशों में निर्वाचन-पद्धति-सम्बन्धी कुछ साधारण सिद्धान्त, जैसे व्यापक मताधिकार अथवा आनुपातिक प्रतिनिधित्व, संविधान द्वारा ही निर्धारित होते हैं अथवा संविधान में उनकी अनुमति रहती है। पर अधिकांश देशों में निर्वाचन-पद्धति की विस्तृत बातें—जैसे मताधिकार की पद्धतियाँ, स्थानों का वितरण, मतदाताओं की योग्यताएँ, पार्टियों का संगठन आदि—साधारण कानून द्वारा नियमित होती हैं और कभी-कभी सुघटित विधान में शामिल होती हैं। संविधान के कार्यान्वित होने में ये सब बातें बुनियादी महत्व की हैं, पर बहुत से देशों में संविधान में बाकायदा संशोधन किये बिना ही उसमें परिवर्त्तन तथा परिवर्धन होता रहता है। किसी भी देश की निर्वाचन-पद्धति तथा स्थानों का वितरण भी विधान मण्डल में पार्टियों की रचना तथा कार्यकारिणी की शक्ति अथवा दुर्बलता को निर्धारित कर सकता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य के अधिकतर भाग में राजनीतिक पार्टियों का संगठन, निर्वाचन के लिए ( 'प्राथमिक' चुनावों के लिए ) उम्मीदवारों के चुनाव का तरीका, तथा सदस्यों की योग्यताएँ ऐसे कानून द्वारा निर्धारित होती हैं, जिसने संयुक्त राज्य के संविधान का हिस्सा न होते हुए भी उसके ऊपर बड़ा भारी प्रभाव डाला है।

अन्त में संविधानों पर इसका भी प्रभाव पड़ता है कि जनता उनके बारे में क्या सोचती है, उनकी तरफ उसका दृष्टिकोण क्या है। यदि किसी संविधान को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, यदि उसमें निहित बातों को प्रत्यक्षतः सही और हितकर समझा जाता है, तो जरा-जरा-सी बात पर बदलने के प्रयत्नों से संविधान की रक्षा करने वाली शक्ति मौजूद है। संशोधन की बाकायदा पद्धति मौजूद होने पर भी उसका बहुत ही कम और बड़ी झिझक के साथ उपयोग होगा। संयुक्त राज्य के संविधान को अपने नागरिकों की दृष्टि में ऐसा ही स्थान प्राप्त है। वे यदि उसे भक्ति नहीं तो बड़े आदर की दृष्टि से तो देखते ही हैं। इस दृष्टिकोण की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह होती है कि जो लोग संविधान में संशोधन करना चाहते हैं वे चिढ़ कर संविधान की उस कल्पित अटलता की निन्दा करते हैं जिसके कारण

छोटे-छोटे सुधारों के प्रयत्न में भी इतनी तीव्र बाधा उपस्थित होती है।

वास्तव में अपने संविधान को अमरीकी जनता जितने आदर की दृष्टि से देखती है उतने आदर से दुनिया में और किसी देश के निवासी अपने संविधान को नहीं देखते। शायद केवल स्विट्ज़रलैंड वासियों से ही भले ही उनकी तुलना हो सके। तो भी अधिकांश संघात्मक देशों में संविधान का आदर करने की प्रवृत्ति पायी जाती है क्योंकि आखिरकार वही देश का सर्वोपरि कानून है और सभी सरकारें उसके अधीन होती हैं। विधानमण्डलों और कार्यकारिणी के कार्य के विरुद्ध उसी के अधिकार का सहारा लिया जाता है। एकात्मक राज्यों में संविधान का सहारा आमतौर पर इतना अधिक नहीं लिया जाता, पर वहाँ भी संविधान का आदर तो किया ही जाता है। हॉलैंड और बेल्जियम अथवा स्कैण्डीनेवियन देशों के लोग अपने संविधानों में अच्छे शासन के कम-से-कम उन कुछेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो पाते ही हैं जिन्हें वे महत्वपूर्ण और बुनियादी समझते हैं। और वे यह मानते हैं कि शासन संविधान के अनुरूप ही चलाया जाना चाहिये! यदि कोई परिवर्त्तन करने ही हों तो वे स्पष्ट होने चाहिये और सोच समझ कर किये जाने चाहिये; संविधानों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये।

यह सही है कि कुछ देशों में संविधान की 'काल्पनिक अटलता' उसके परिवर्त्तन को रोकने अथवा उसमें बाधा डालने में बहुत सहायक होती है। किन्तु ऐसे भी देश हैं जिनमें 'काल्पनिक अटलता' की बात तो दूर, साधारण आदर की भावना ही संविधान के प्रति नहीं पायी जाती। वहाँ उसको अवहेलना अथवा उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा जाता है। यदि संयुक्त राज्य संविधान के प्रति भक्ति का चरम उदाहरण है तो मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के कुछ देश दूसरे प्रकार के चरम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अधिकतर उन प्रजातन्त्रों के निवासी या तो अपने संविधानों से अनभिज्ञ रहते हैं अथवा उनके प्रति उदासीनता बरतते हैं, और सरकारों को उनकी उपेक्षा करने में, उनमें संशोधन करने में, अथवा प्रायः उन्हें स्थगित कर देने में कोई कठिनाई नहीं होती। इन प्रजातन्त्रों के बारे में यह कहना शायद सही है कि उनके निवासियों के मन में न अपनी सरकार के लिए कोई स्नेह अथवा आदर है और न अपने संविधान के लिए। दूसरी ओर योरप के कुछ देशों, जैसे सोवियत यूनियन तथा उसके अनुयायी राज्यों में, सरकार के आगे संविधान

का कोई महत्व नहीं है और वहाँ नागरिकों के आदर और भय पर सरकार का ही एकाधिकार है। फिर कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ संविधान को नागरिकों का आदर इसलिए नहीं प्राप्त होता क्योंकि वह स्वयं ही एक विवाद का विषय है। उदाहरण के लिए फ्रांस और इटली में ऐसी पार्टियाँ मौजूद हैं जिन्हें संविधान द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था से आपत्ति है और एक सर्वथा भिन्न व्यवस्था की स्थापना ही जिनका उद्देश्य है। ऐसी परिस्थिति में संविधान में सुधार करना कठिन हो जाता है क्योंकि जो लोग सुधार करना चाहते हैं वे तो बहुत आगे बढ़ जाना चाहते हैं, पर उनके विरोधी एक इंच भी बढ़ना सुरक्षित नहीं समझते। ऐसी परिस्थितियों में यह सम्भावना रहती है कि सुधार बहुत देर तक टाला जाता रहे, और क्रान्ति अनिवार्य हो जाय।

संविधानों में परिवर्त्तन करने अथवा लाने वाली शक्तियों अथवा तत्वों के इस संक्षिप्त विवेचन का अभिप्राय यह दिखाना है कि केवल परिस्थितियों के परिवर्त्तन भर से ही संविधान में कितना भारी परिवर्त्तन हो सकता है। पर यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि बहुत से ऐसे परिस्थितियों के परिवर्त्तन यद्यपि अपने आप तो केवल संविधान के स्वरूप अथवा अर्थ में ही परिवर्त्तन करें, किन्तु यह सम्भव है कि उनके कारण दस्तावेज में ही वास्तविक नियमित परिवर्त्तन हो जाय या किसी न्याय-सम्बन्धी निर्णय से उसकी व्याख्या बदल जाय या विधानमण्डल द्वारा संघटित कानून में परिवर्त्तनों के द्वारा संविधान में कुछ पूर्त्ति हो जाय या संविधान के नियमित कानूनों की पूर्त्ति के लिए परिपाटियों और रुढ़ियों का निर्माण हो। इस भाँति १९३० की मन्दी की माँगों के कारण ही कनाडा वासियों ने अपने संविधान में १९४० में संशोधन किया जिसके द्वारा 'बेकारी का बीमा' भी उन विषयों की सूची में शामिल कर लिया गया जिन पर कनाडा की संसद को कानून बनाने का अधिकार है। मन्दी ने पहले ही ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी थी जिसमें कनाडा की सरकार को देश की आर्थिक व्यवस्था की योजना बनाने और प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक सहायता देने के लिए बाध्य होना पड़ा था। उसके कारण कनाडा की सरकार को संविधान द्वारा मिले हुए बहुत से अधिकारों का व्यापक उपयोग करना पड़ा था। पर ये अधिकार काफी नहीं थे और इसलिए आर्थिक मन्दी से उत्पन्न होनेवाली तमाम समस्याओं का सामना कर सकने के उद्देश्य से नियमित

संशोधन द्वारा स्वयं संविधान को बदलना जरूरी हो गया था।

जिन शक्तियों ने केन्द्रीय सरकार को अपने अधिकारों के अधिक व्यापक उपयोग के लिए प्रेरित किया है उन्हीं के कारण धीरे-धीरे यह प्रश्न भी एकदम सामने उभर आया है : इस बढ़े हुए कार्य का मूल्य कैसे चुकाया जायगा ? बहुत बार केन्द्रीय सरकारों को पता चला है कि संविधान द्वारा राजस्व के जो साधन उनके हिस्से में आते हैं वे इस काम के लिए पर्याप्त नहीं हैं। और इसलिए उनकी राजस्व प्राप्त करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए संविधान में संशोधन किये गये हैं। इस बात का अच्छा उदाहरण संयुक्त राज्य के संविधान का सोलहवाँ संशोधन है जो १९१३ में स्वीकृत हुआ और जिसने मूल संविधान में आयके ऊपर कर लगाने और वसूल करने के सम्बन्ध में लगे हुए कुछ प्रतिबन्धों को दूर कर दिया। ऑस्ट्रेलिया की सरकार के आर्थिक मामलों से सम्बन्धित अधिकारों को १९२८ में संविधान में संशोधन करके व्यापक किया गया, और स्विट्ज़रलैण्ड के संविधान में १९१५, १९१९ और १९३८ में संशोधन किये गये ताकि केन्द्रीय सरकार के आर्थिक साधन, विशेषकर सुरक्षा-सम्बन्धी खर्च को पूरा करने के लिए, बढ़ाये जा सकें। स्विट्ज़रलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया में कल्याणकारी राज्य की नीतियों के कारण भी संविधान में परिवर्त्तन हुए हैं जिससे केन्द्रीय सरकार को ये सुविधाएँ जुटाने का अधिकार प्राप्त हो सके। उदाहरण के लिए स्विट्ज़रलैण्ड के संविधान में १९२५ में संशोधन करके अपाहिजों के लिए, वृद्धावस्था के लिए तथा विधवाओं के लिए पेंशन का प्राधिकार सरकार को दिया गया। और ऑस्ट्रेलिया में १९४६ के एक संशोधन के परिणामस्वरूप प्रसवकालीन भत्ता, विधवाओं की पेंशन, शिशु-धर्मस्व, बेकारी, औषधि, बीमारी तथा अस्पताल सम्बन्धी सुविधाएँ, चिकित्सा सम्बन्धी तथा दन्त-सम्बन्धी सुविधाएँ, विद्यार्थियों की वृत्तियाँ तथा पारिवारिक भत्ते देने का अधिकार सरकार को मिल गया।

पर संविधान में परिवर्त्तन करने वाली इन शक्तियों के परिणामस्वरूप संविधान में नियमित संशोधन होना सदा अनिवार्य नहीं होता। प्रायः वे परिस्थितियों में ऐसा परिवर्त्तन भर करती हैं जिसके कारण यह विवाद पैदा हो जाय कि इन परिस्थितियों के अनुकूल कार्य करने योग्य अधिकार मौजूदा संविधान में सरकार के पास हैं भी या नहीं। यहाँ संयुक्त राज्य के संविधान में काँग्रेस के वाणिज्य-

सम्बन्धी अधिकारों का प्रश्न इस बात का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी अध्याय के प्रारम्भ में यह बताया गया था कि औद्योगिक, व्यावसायिक और संदेशवाही साधनों में होने वाली क्रान्तियों के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों के बीच वाणिज्य की मात्रा और गति दोनों बहुत अधिक बढ़ गयीं थीं। इसके परिणाम-स्वरूप अधिकार की सीमा के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़े हुए और संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय को बारबार इस बात का निर्णय करने की जरूरत पड़ने लगी कि अमुक विषय काँग्रेस के राज्यों के बीच व्यवसाय के व्यवस्थापन के अधिकार के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं। उपरोक्त क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली संयुक्त राज्य की आधुनिक आर्थिक व्यवस्था संविधान-निर्माताओं की कल्पना से एकदम भिन्न थी। वास्तव में क्या आज कल विभिन्न राज्यों के बीच तथा राज्यों के भीतर वाणिज्य में वैसा अन्तर करना सम्भव है जैसा उन-दिनों सोचा गया था ? क्या दोनों के बीच लकीर खींची जा सकती है, और वह कहाँ खींची जानी चाहिये ? सर्वोच्च न्यायालय को अपने जन्म से ही इस प्रश्न पर विचार करने को मजबूर होना पड़ा है। आधुनिक युग में उसे इस विषय में निर्णय देना पड़ा कि राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट की 'नयी व्यवस्था' के अंग के रूप में १९३३ में काँग्रेस ने जो **नैशनल इंडस्ट्रियल रिकवरी ऐक्ट** स्वीकृत किया था वह वैध है अथवा नहीं। न्यायालय ने प्रश्न की जटिलता को स्वीकार करते हुए भी इसका उत्तर दिया और अधिनियम को अवैध ठहराया (**स्कैक्टर पोल्ट्री कार-पोरेशन बनाम युनाइटिड स्टेट्स** २९५ सं० रा० ४९५ )।

युद्ध के समय केन्द्रीय सरकार के अधिकारों से भी ऐसा ही उदाहरण मिलता है। यह तो जाहिर है कि युद्ध की स्थिति सरकार को उन तमाम अधिकारों का पूरा-पूरा उपयोग करने का अवसर दे देती है जो शान्ति के समय सोये पड़े रहते हैं और इस भाँति वह सरकार अधिक शक्तिशाली हो जाती है। किन्तु सुरक्षा सम्बन्धी अधिकारों की सीमा को लेकर भी विवाद तो उठते ही हैं। अदालतों को, विशेषकर संघात्मक देशों में, इन प्रश्नों को हल करना पड़ता है और ऑस्ट्रेलिया तथा कनाडा में विशेषरूप से इसी प्रश्न पर बहुत से निर्णय दिये गये हैं। आर्थिक मन्दी भी इसी भाँति केन्द्रीय सरकार के कार्य को तीव्रतर करती है पर उससे भी सरकार के अधिकारों की सीमा का प्रश्न उठ सकता है। कनाडा में १९३० में

आर्थिक मन्दी से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को सुलझाने के लिए मि० बेनेट की सरकार ने कई कानून बनाये जिनकी वैधता के बारे में अदालतों में इस आधार पर प्रश्न उठाये गये कि वे कानून कनाडा की संसद को प्राप्त अधिकारों की सीमा का उल्लंघन करते हैं। करीब-करीब वे तमाम कानून १९३७ में प्रिवी काउंसिल की न्यायसमिति द्वारा अवैध ठहराये गये ( **एटॉर्नी जनरल ऑफ़ कनाडा बनाम एटॉर्नी जनरल ऑफ ओंटेरियो** [ १९३७ ] ए० सी० ३२६ और ३५५ )।

संवैधानिक परिवर्त्तन पैदा करने वाले कुछेक तत्त्व इस बात में इतने नहीं प्रगट होते कि संविधान में नियमित संशोधन हो जायँ अथवा ऐसे अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद खड़े हो जायँ जिनके बारे में निर्णय के लिए अदालत की शरण लेनी पड़े। वल्कि उनका प्रभाव इस बात से प्रगट होता है कि उनके कारण कुछ ऐसी परिपाटियाँ अथवा रूढ़ियाँ अथवा मान्यताएँ चल पड़ती हैं जो स्वयं कानूनी नियम हुए बिना भी संविधान में शामिल कानूनी नियमों के कार्य पर प्रभाव डालती हैं। इस प्रक्रिया का और अधिक विवेचन आठवें अध्याय में किया जायगा, पर यहाँ एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट करना उपयोगी होगा। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि पार्टी-प्रथा संविधान में शक्तियों के सन्तुलन पर, विशेषकर विधान-मण्डल के विरुद्ध कार्यकारिणी की शक्ति के मामले में, प्रभाव डालती है। पर पार्टी और आगे जा सकती है और सचमुच कुछ ऐसे शासन सम्बन्धी नियम बना सकती है जिनकी मान्यता मुख्यतः पार्टी के अनुशासन से प्राप्त होती है। संयुक्त राज्य में राष्ट्रपति का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा अपने-अपने राज्यों में मतदान द्वारा होता है, जैसा संविधान में निर्दिष्ट है, परोक्ष रूप से निर्वाचक-गणों ( Colleges of Electors ) द्वारा नहीं। यह पार्टी-प्रथा का ही परिणाम है। राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार पार्टी के उम्मीदवार होते हैं और निर्वाचक-गणों के सदस्य भी पार्टी के ही आदमी होते हैं जो पार्टी के उम्मीदवार का ही समर्थन करने के लिए वचन-बद्ध होते हैं। यह बात इतनी सर्वविदित है कि इसे अमरीकी शासन व्यवस्था का एक नियम, एक सर्वस्वीकृत परिपाटी अथवा चलन मान लिया जा सकता है। उससे संविधान में औपचारिक संशोधन की आवश्यकता नहीं उत्पन्न होती ; वास्तव में उसमें तथा संविधान के कानून में कोई विरोध नहीं है। वह उसकी पूर्त्ति करता है और उसे विशेष अर्थ प्रदान करता है; वह उसके कार्यान्वित होने में परिवर्त्तन

पैदा करता है।

अगले तीन अध्यायों में इस बात का विवेचन किया गया है कि इस अध्याय में वर्णित शक्तियों के फल स्वरूप संविधान किस प्रकार बदलते हैं। यह विवेचन इस बात को मानकर चलता है कि संविधान के कार्यान्वित होने में बहुत से महत्व-पूर्ण परिवर्त्तन सरकार का व्यवस्थापन करनेवाले नियमों में हेर-फेर किये बिना ही हो जाते हैं, फिर ये नियम चाहे एक दम कानूनी नियम हों अथवा परिपाटी तथा रूढ़िगत नियम। संविधान सम्बन्धी परिवर्त्तन के विवेचन का आधार अथवा पृष्ठ-भूमि यही है। बहुत बार उसका वर्णन अथवा मूल्यांकन कठिन हो जाता है, विशेष-कर इसलिए कि उसमें बहुत ही कम स्थिरता रहती है। इस आधार पर हम एक-एक करके इस बात का विवेचन करेंगे कि किस प्रकार नियमित संशोधन की पद्धति द्वारा, न्यायालयों के निर्णय की पद्धति द्वारा और अन्त में परिपाटियों और रूढ़ियों के बनने के द्वारा संविधानों में परिवर्त्तन होता रहता है। इनमें से प्रत्येक पद्धति की अन्य दोनों पर प्रतिक्रिया होती है तथा वह उन्हें निरन्तर पुष्ट, पूर्त्त और कभी-कभी समाप्त करती रहती है। उनको केवल विवेचन के लिए ही अलग-अलग किया जा सकता है पर संविधान के रोजमर्रा के काम में एक साथ सक्रिय रहती हैं। उनका आपेक्षिक महत्व समय-समय पर और स्थान-स्थान में भिन्न-भिन्न होता है। उनके वास्तविक सहयोग के ऊपर संविधान की स्वस्थता और लचकीलापन, उसका विकास और उसकी शक्ति निर्भर करती है।

---

# ६ : संविधान कैसे बद्लते हैं : नियमित संशोधन

जब पिछले किसी अध्याय में संविधानों के वर्गीकरण का विवेचन किया गया था तो दो तरह के संविधान बताये गये थे। एक वे जिनमें साधारण वैधानिक पद्धति द्वारा संशोधन किया जा सकता है, जिन्हें शिथिल संविधान कहते हैं; और दूसरे वे जिनमें संशोधन के लिए किसी विशेष पद्धति की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें साधारणतः कठोर संविधान कहा जाता है। इस अर्थ में अधिकांश आधुनिक संविधान 'कठोर' ही हैं; बहुत ही कम संविधानों में—जिनमें न्यूज़ीलैंड का एक है—संशोधन साधारण वैधानिक पद्धति द्वारा हो सकता है। संविधानों के संशोधन के लिए जो-जो पद्धतियाँ निर्दिष्ट होती हैं उनमें बहुत ही विविधता है और उनके पीछे किसी सामान्य सिद्धान्त को खोज निकालना कठिन काम है। पर इन अनुबन्धों के अध्ययन से एक-दो ऐसे सामान्य निष्कर्ष उन उद्देश्यों के सम्बन्ध में अवश्य निकाले जा सकते हैं जिनको प्राप्त करने अथवा जिनकी रक्षा करने के अभिप्राय से संशोधन सम्बन्धी पद्धति का निर्देश किया जाता है।

साधारणतः यह जान पड़ता है कि अधिकांश आधुनिक संविधानों में संशोधन सम्बन्धी प्रक्रिया का उद्देश्य चार में से एक या एक से अधिक बातों की रक्षा करना होता है। पहली तो यह कि संविधान में संशोधन केवल सोच-समझकर ही होना चाहिये, हलकेपन से या दायित्त्वहीनता के साथ नहीं; दूसरी यह है कि परि-

वर्त्तन करने से पहले जनता को अपना मत प्रगट करने का अवसर मिलना चाहिए; तीसरे संघात्मक व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार तथा अन्तर्गत सरकारों के परस्पर अधिकारों में परिवर्त्तन केवल एक ही पक्ष के निर्णय पर नहीं हो जाना चाहिये; और चौथे यह कि व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक अधिकारों की—उदाहरण के लिए अल्पसंख्यकों के भाषा, धर्म अथवा संस्कृत-सम्बन्धी अधिकारों की—रक्षा होनी चाहिये। किसी संविधान में इनमें से केवल एक पर ही ध्यान दिया गया है; कुछेक में दो या तीन अथवा चारों को ध्यान में रखा गया है। ऐसे बहुत थोड़े 'कठोर' संविधान हो सकते हैं जिनकी संशोधन सम्बन्धी पद्धति को इन चारों में किसी एक अथवा एक से अधिक आधार पर न समझा जा सके। इन चारों में पहले, अर्थात् सोच-समझ कर संशोधन करने के बारे में कुछ अधिक कहने की जरूरत नहीं है। संविधान शासन का आधार है इसलिए उसके प्रति आदर होना आवश्यक ही है। पर बाकी तीनों के बारे में विस्तार से चर्चा करना जरूरी है।

अधिकांश नहीं तो बहुत से आधुनिक संविधानों में यह उचित समझा जाता है कि जनता अथवा मतदाताओं को इस बात के निर्णय के सम्बन्ध में मतामत देने का अवसर मिलना चाहिये कि संशोधन किया जाय अथवा नहीं। यह संशोधन-पद्धति के मामले में जनता की प्रभुता तथा जनता की अपना संविधान अधिनियमित करने और स्वीकृत करने की क्षमता के सामान्य सिद्धान्त का ही एक उदाहरण है जिसका चौथे अध्याय में विवेचन हो चुका है। यह उस सिद्धान्त से प्रगट ही होता है। जनता की इच्छा का पता लगाने के बहुत से तरीके हैं। कभी-कभी तो प्रस्तावित संशोधन विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत होने के बाद सचमुच जनता के सामने मतामत के लिए प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के लिए आयरलैंड के प्रजातन्त्र, डेनमार्क, ऑस्ट्रेलिया राष्ट्रमण्डल, स्विट्ज़रलैंड के संविधानों में तथा संयुक्त राज्य के अड़तालीसों राज्यों के संविधानों में इसी पद्धति का निर्देश है।

जनता की राय एक और तरीके से भी जानी जा सकती है। स्वयं विधानमण्डल को संशोधन करने का अधिकार तो मिला हुआ हो, पर उसकी अन्तिम कार्रवाई तब तक न हो जब तक नया आम चुनाव न हो जाय और इस भाँति जनता यदि चाहे तो निर्वाचन में प्रतिनिधियों के चुनाव में अपने मतदान द्वारा अपना मतामत प्रगट कर सके। बेल्जियम में जब भी संविधान में संशोधन का प्रस्ताव सामने आता

है तो दोनों विधान-सभाएँ भंग कर दी जाती हैं और दूसरे चुनाव के बाद जब संशोधन दोनों सभाओं में अलग-अलग कम-से-कम दो तिहाई सदस्यों की उपस्थिति में कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता है तभी वह मान्य हो सकता है। डेनमार्क में, जैसा ऊपर कहा गया है, प्रस्तावित संशोधन पर जनता के मत ग्रहण के पहले उसका आम चुनाव के पूर्व और बाद में दोनों विधान सभाओं द्वारा समर्थन होना आवश्यक है। हॉलैंड में भी दोनों सभाओं का नया आम चुनाव होना चाहिये और फिर उसके बाद संशोधन को दोनों सभाओं में दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत होना चाहिये। स्वीडन में आम चुनाव के पहले और बाद दोनों सभाओं में बहुमत होने की आवश्यकता होती है। नॉर्वे में एक और शर्त्त लगी हुई है कि आम चुनाव के बाद विधानमण्डल के दो-तिहाई मतों का समर्थन आवश्यक है। कोलम्बिया और इक्वैडोर में संशोधन का क्रमशः दो काँग्रेसों में दोनों सभाओं के बहुमत द्वारा स्वीकृत होना जरूरी होता है।

कुछ देशों में ऐसी भी प्रथा है कि जनमतग्रहण हो भी सकता है पर होना आवश्यक नहीं है। इस भाँति फ्रांस में चौथे प्रजातन्त्र के संविधान के अनुसार यदि संशोधन को लोकसभा में दो-तिहाई मतों से अथवा दोनों सभाओं में साठ फीसदी मतों से समर्थन न मिला हो तो उसके लिए जनमतग्रहण आवश्यक होता है। १९४८ के इटली के संविधान में प्रस्तावित संशोधन को, विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत होने के बाद, यदि वह प्रत्येक विधानसभा में दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत न हुआ हो, और यदि तीन महीने के भीतर लोकसभा के २० प्रतिशत सदस्य या पाँच लाख मतदाता या पाँच प्रादेशिक परिषदें प्रार्थना करें तो उसके लिए जनमतग्रहण होना चाहिये। चिली में १९२५ के संविधान के अनुसार संशोधन को पहले प्रत्येक सभा में अलग-अलग बहुमत से स्वीकृत होना चाहिये, फिर दोनों सभाओं की सम्मिलित बैठक में, और कुल सदस्यों में से बहुसंख्यक की उपस्थिति में, बहुमत से स्वीकृत होना चाहिये; और उसके बाद भी कुछ परिस्थितियों में यदि राष्ट्रपति चाहें तो उसे जनता के मतामत के लिए रख सकते हैं।

अभी तक जितने उदाहरण बताये गये हैं उनमें संविधान के संशोधन के मामले में जनता का हाथ विधानमण्डलों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्ताव के समर्थन अथवा अ-समर्थन तक ही सीमित है। पर कुछ देशों में यह उचित माना जाता है कि

जनता को भी अपने आप अगुवाई करने का और संवैधानिक संशोधन के प्रस्ताव रखने का अवसर मिलना चाहिये। स्विट्ज़रलैंड इस प्रथा का घर है जिसे 'अगुवाई' कहा जाता है। स्विट्ज़रलैंड में संविधान के संशोधन के सिलसिले में अगुवाई बहुत प्रकार से कार्यान्वित होती है। यदि ५०,००० योग्यताप्राप्त मतदाता माँग करें तो संविधान के आमूल परिवर्त्तन का प्रश्न स्विस जनता के समक्ष मतदान के लिए रखा जाना चाहिये। और यदि बहुमत की माँग हो तो विधानमण्डल की दोनों सभाएँ भंग कर दी जाती हैं और नये चुनाव के बाद वे आमूल परिवर्त्तन के प्रस्ताव तैयार करती हैं जिन्हें अन्त में फिर जनमतग्रहण के लिए रखा जाता है। दूसरी ओर ५०,००० मतदाताओं को यह भी अधिकार है कि वे आमूल परिवर्त्तन की माँग न करके सामान्य शब्दों में अथवा प्रत्यक्ष मसविदे द्वारा किसी विशेष संशोधन की माँग करें। यदि प्रस्ताव सामान्य शब्दों में है तो संघीय विधानसभा प्रस्ताव को स्वीकार करने पर एक मसविदा तैयार करती है जो जनता के समर्थन के लिए रखा जाता है। यदि संघीय विधानसभा प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती तो फिर जनता से इस बात का निश्चय करने को कहा जाता है कि वह सामान्य शब्दों में ही संशोधन चाहती है या नहीं और यदि वह तैयार होती है तो फिर संघीय विधानसभा को संशोधन का मसविदा तैयार करना पड़ता है। दूसरी ओर यदि प्रस्ताव को ५०,००० मतदाता मसविदे के ही रूप में पेश करें और संघीय विधानसभा को वह स्वीकार हो तो वह तुरंत ही जनमतग्रहण के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है। यदि संघीय विधानसभा को प्रस्ताव स्वीकार न हो तो वह एक दूसरा प्रस्ताव तैयार करके जनता के सामने रख सकती है और जनता दोनों प्रस्तावों में से किसी को भी स्वीकार कर सकती है।

अमरीकी संघ के अड़तालीस में से तेरह राज्यों में अगुवाई द्वारा संवैधानिक संशोधन का निर्देश है। विस्तार की दृष्टि से अलग-अलग राज्यों की शर्त्तें अलग-अलग हैं पर आम तौर पर नियम यही है कि जब योग्यतासम्पन्न मतदाताओं में से फी सैकड़ा निश्चित संख्या में—८ से लगाकर १५ फीसदी तक—मतदाता माँग करें तो संविधान में संशोधन करने का प्रस्ताव निर्वाचकों के सामने रखा जाना आवश्यक है।

जब हम संघात्मक संविधान में संशोधन की पद्धति पर विचार करने बैठते हैं

तो एक नये पक्ष पर ध्यान देना जरूरी है। संघात्मक शासन का सिद्धान्त ही यह है कि शासन के अधिकार समूचे देश की सरकार और उसके विभिन्न भागों की सरकारों के बीच बँटे हुए होते हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में ये सरकारें एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संशोधन-पद्धति ऐसी होनी चाहिये कि न अकेली केन्द्रीय सरकार और न अकेली प्रादेशिक सरकारें संविधान के अधिकार-विभाजन को बदल सकें। आम तौर पर सर्वोत्तम यही समझा जाता है कि संशोधन की ऐसी कोई पद्धति अपनायी जाय जिसमें केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों की सम्मिलित कार्रवाई आवश्यक हो। संयुक्त राज्य में ऐसी ही स्थिति है जहाँ संविधान में संशोधन तभी हो सकता है जब वह प्रस्ताव काँग्रेस की प्रत्येक सभा द्वारा दो-तिहाई मतों से स्वीकृत हो और उसके बाद तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों के मत द्वारा स्वीकृत हो। जहाँ तक अधिकारों के विभाजन में संशोधन का प्रश्न है ऐसी ही शर्त्त भारतवर्ष के संविधान में है, यद्यपि वहाँ आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति पर्याप्त है।

कुछ संघात्मक व्यवस्थाओं में जनता को संवैधानिक संशोधन के कार्य में प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध करने के सिद्धान्त को संघात्मक व्यवस्था की आवश्यकताओं से जोड़ दिया गया है और यह नियम बनाया गया है कि संशोधन को पहले केन्द्रीय विधानमण्डल की दोनों सभाओं में स्वीकृत होने के बाद जनमतग्रहण के लिए रखना चाहिये। और यदि उसे न केवल समस्त मतदाताओं में से बहुसंख्यक स्वीकार करें, बल्कि यदि संघ से सम्बद्ध बहुसंख्यक राज्यों के बहुसंख्यक मतदाता स्वीकार करें तो उस संविधान को मान लेना चाहिये। स्विट्ज़रलैंड और ऑस्ट्रेलिया में यही नियम है। संघ की आवश्यकताएँ स्वीकार करके उन्होंने इस बात का नियम बनाया है कि संविधान में कोई परिवर्त्तन अकेले केन्द्रीय विधानमण्डल अथवा अकेले प्रादेशिक विधानमण्डलों द्वारा न हो सके; दूसरी ओर उनका यह भी कहना है कि इन दोनों प्रकार की सरकारों के बीच का सम्बन्ध केवल सरकारों के ही फैसले की बात नहीं है—जैसा शायद अमरीकी संशोधन-पद्धति से निष्कर्ष निकाला जा सकता है—बल्कि वह जनता के फैसले की बात है जो अपने दोनों रूपों में, समस्त देश के नागरिकों के रूप में और प्रादेशिक नागरिकों के रूप में, कार्य करती है। एकात्मक राज्य में तो यह कहना पर्याप्त हो सकता है कि मतग्रहण में बहुसंख्यक मत-

दाताओं की राय से संशोधन स्वीकृत हो जाना चाहिये ; पर संघात्मक सरकार में कुछ और भी जरूरत होती है—प्रादेशिक राज्यों के नागरिकों के रूप में भी जनता की राय प्रगट होनी चाहिये।

संघात्मक देश में संशोधन-पद्धति में एकरूपता होना जरूरी नहीं है। जहाँ तक संघात्मकता के सिद्धान्त का सवाल है, जब तक संवैधानिक संशोधन के अधिकार अकेले केन्द्रीय सरकार को अथवा अकेले प्रादेशिक सरकारों को नहीं सौंपे जाते तब तक कोई भी पद्धति संघात्मकता की आवश्यकताओं के अनुकूल है। १९५० तक कनाडा में न केन्द्रीय सरकार न प्रान्तीय सरकारें, अकेले अथवा मिलकर, संविधान में संशोधन कर सकती थीं—वह अधिकार केवल ब्रिटेन की पार्लियामेंट को प्राप्त था। यह एक चरम स्थिति है। पर इस बात पर ध्यान देना उचित है कि बहुत लोगों की धारणा के अनुसार जनता की प्रभुता की, संवैधानिक संशोधन के लिए जनता की सहमति की, आवश्यकताएँ संघात्मकता की आवश्यकताओं के साथ मिलाकर रखी जा सकती हैं जैसा ऑस्ट्रेलिया और स्विट्ज़रलैंड में किया गया है।

अधिकारों की रक्षा के मामले में, चाहे वे व्यक्तिगत हों अथवा अल्पसंख्यकों के, परिस्थितियों के अनुकूल बहुत तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं। यहाँ स्विट्ज़रलैंड के संविधान से कुछेक दिलचस्प उदाहरण मिलते हैं। स्विस संविधान की संशोधन-पद्धति न केवल जनता की प्रभुता तथा संघात्मकता के सिद्धान्त की रक्षा करती है, बल्कि कुछेक व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों की भी रक्षा करती है। इस भाँति यह संविधान में लिखा हुआ है कि जर्मन, फ्रेंच और इटालियन तीनों संघ की सरकारी भाषाएँ हैं और इन्हें तथा चौथी रोमान्श को मिलाकर चार राष्ट्र-भाषाएँ होती हैं। इन अनुबन्धों को इस भाँति साधारण कानून से उच्चतर स्तर प्राप्त है; उनके लिए संवैधानिक आश्वासन मौजूद हैं ; उन्हें संवैधानिक संशोधन की विशेष पद्धति के बिना नहीं बदला जा सकता। कनाडा के संविधान में ऐसा ही दर्जा फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाओं को दिया गया है। संविधान में लिखा है : "कनाडा की संसद की सभाओं में और क्यूबेक की विधान-सभाओं में होनेवाली बहसों में कोई भी व्यक्ति चाहे तो अंग्रेजी का व्यवहार कर सकता है और चाहे फ्रेंच भाषा का, और इन सभाओं की पत्र-पत्रिकाओं में तथा कागजों में इन दोनों भाषाओं का व्यवहार किया जायगा ; और इस अधिनियम द्वारा स्थापित

कनाडा की तथा क्यूबेक की किसी भी अदालत में अथवा अदालत से निकलने-वाले किसी भी दस्तावेज में किसी भी व्यक्ति द्वारा वकालत तथा अन्य किसी कार्य में इन दोनों में से किसी भी भाषा का उपयोग किया जा सकता है। कनाडा की संसद के तथा क्यूबेक के विधानमण्डल के अधिनियम इन दोनों भाषाओं में छापे और प्रकाशित किये जायेंगे।"

संघात्मक संविधान में अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा संवैधानिक संशोधन की पद्धति पर उन्हीं प्रतिबन्धों द्वारा पूरी करने की प्रवृत्ति होती है जिनसे संविधान के संघात्मक स्वरूप की रक्षा भी हो। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा अक्सर होता है—और क्यूबेक के फ्रांसीसी कनाडावासी इसका अच्छा उदाहरण उपस्थित करते हैं—कि किसी देश में एकात्मक की बजाय संघात्मक सरकार स्थापित करने का निर्णय बहुत हद तक अल्पसंख्यकों की मौजूदगी के कारण हुआ करता है। पर दोनों बातों में अन्तर करना जरूरी है। वास्तव में कनाडा में जब १९५० में उस समय तक की संवैधानिक संशोधन की पद्धति को बदलने के प्रश्न-पर वादविवाद शुरू हुआ तो उनमें अन्तर किया भी गया था। उस समय तक यह नियम था कि संविधान में संशोधन ब्रिटेन की पार्लियामेंट के अधिनियम द्वारा ही हो सकता है। कनाडा के और प्रान्तों के प्रतिनिधि इस बात पर एकमत थे कि अल्पसंख्यकों के भाषा तथा धर्मसम्बन्धी अधिकारों की रक्षा के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों के बीच अधिकार-विभाजन की रक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर और अपरिवर्त्तनीय संरक्षण की जरूरत है।

१९०९ में दक्षिणी अफ्रीका के संघ का संविधान बनाते समय अँग्रेजी और डच भाषाओं के संरक्षण के उपाय सोचे गये थे। जब यह निश्चय हुआ कि संविधान संघात्मक नहीं एकात्मक होगा तो संविधान के उस भाग के संशोधन में एक विशेष पद्धति का निर्देश आवश्यक हो गया जिसमें इनका तथा अन्य सामुदायिक अधिकारों का आश्वासन दिया गया था। इसीलिये यह फैसला हुआ कि संविधान के ऐसे अंशों का संशोधन केवल संघीय संसद की दोनों सभाओं की सम्मिलित बैठक में दोनों सभाओं के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा हो सकेगा। जिस समय तक संघ का संविधान ब्रिटिश पार्लियामेंट का अधिनियमन होने के कारण संघ की संसद के विधान के ऊपर था, तब तक उपर्युक्त संरक्षण काफी सफल

कानूनी रुकावट का काम करता था। पर १९३१ की वेस्टमिंस्टर की संविधि स्वीकृत होते ही, और संघ की संसद को ब्रिटिश पार्लियामेंट के कानूनों में संशोधन करने का अधिकार मिलते ही ऐसा लगा कि इस संरक्षण का कोई कानूनी मूल्य नहीं बचा।

यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि ऊपर सामान्य रीति से बताये गये उद्देश्यों को प्राप्त करने अथवा सुरक्षित रखने के लिए संविधान को बदलने के जो बहुत से उपाय बताये गये हैं उनका व्यवहार में क्या रूप रहा है। क्या संविधानों में बार-बार परिवर्त्तन होता रहता है ? उनमें संशोधन जल्दी-जल्दी होते हैं या बहुत ही कभी-कभी ? क्या अधिकांश संविधानों को उनके अन्तर्गत रहनेवाली जनता संतोष-जनक समझती है ? यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस तरह के प्रश्न का कोई सामान्य-सा उत्तर दे सकना कठिन है क्योंकि आज के मौजूदा संविधानों में से बहुत ही कम इतने पुराने हैं कि उनके बारे में कोई राय बनायी जा सके। बीसवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के देशों के प्रचलित संविधानों में केवल स्वीडन (१८०९), नॉर्वे ( १८१४ ), हॉलैंड ( १८१५ ), बेल्जियम ( १८३१ ) और स्विट्ज़रलैंड ( १८४८ ) के संविधान १९१४ के पहले के थे। ( डेनमार्क का आधुनिक संवि-धान, जो १८६३ के संविधान पर आधारित है, १९२० में लागू हुआ। ) यदि इनमें हम संयुक्त राज्य ( १७८७ ) तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के कुछ देशों के— कनाडा ( १८६७ ), न्यूज़ीलैंड ( १८५२ ), ऑस्ट्रेलिया ( १९०१ ), दक्षिणी अफ्रीका ( १९०९ ) के—संविधान तथा लैटिन अमरीकी प्रजातन्त्रों में से दो-एक देशों के संविधान और जोड़ दें तो हमें ऐसे कुछ देश मिल जायेंगे जिनमें चालीस वर्ष या अधिक का अविच्छिन्न संवैधानिक इतिहास मिल सकता है और संशोधन-पद्धति द्वारा संविधान को बदलने के प्रयत्नों का अनुभव प्राप्त हो सकता है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस प्रकार से संविधान बने और मिटे हैं उस पर जोर देना शायद उपयोगी सिद्ध हो। इनमें से बहुत से परिवर्त्तनों का अवसर दो महायुद्धों ने प्रस्तुत किया। पहले महायुद्ध का अन्त होते-होते जर्मन साम्राज्य, रूसी साम्राज्य, ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य और तुर्की साम्राज्य के संविधान लड़खड़ा चुके थे। अगले कुछ वर्षों में पुराने साम्राज्यों के खँडहरों में स्थापित होनेवाले नये-नये संविधान बने। जर्मनी ( १९१९ का तथाकथित 'वाइमार' संविधान ), सोवि-

यत यूनियन ( १९२४ तथा १९३६ ), पोलैंड ( १९२१ ), चेकोस्लोवाकिया ( १९२० ), यूगोस्लाविया ( १९२१ ), ऑस्ट्रिया ( १९२१ ), हंगरी ( १९२० ), एस्टोनिया ( १९२० ), लिथुआनिया ( १९२८ ), लेटविया ( १९२२ ), यूनान ( १९२७ ), रूमानिया ( १९२३ ), अल्बानिया ( १९२५ ), फिनलैंड ( १९१९ ), पुर्तगाल ( १९३३ ) और स्पेन ( १९३१ ) के संविधान नये थे। दूसरे महायुद्ध का अन्त होते-होते इनमें से भी अधिकांश संविधान निष्क्रिय हो चुके थे। इस ध्वंस में फ्रांस और इटली के १९१४ के पहले वाले संविधान भी शामिल हो चुके थे। केवल फिनलैंड, पुर्तगाल और सोवियत यूनियन में ही शायद यह कहा जा सकता था कि इन देशों के संविधानों का पिछला कुछ रूप अभी बाकी है। १९४५ के बादवाले वर्षों में नये संविधान एक बार फिर प्रगट होने लगे ; पर इस बार उनकी संख्या भी कम थी और १९१८ के बादवाले वर्षों की अपेक्षा उनमें उदारपन्थी और जनवादी आवेश की भी कमी थी। फ्रांस ( १९४६ ), इटली ( १९४८ ), पश्चिमी जर्मनी संघीय प्रजातन्त्र ( १९४८ ), यूगोस्लाविया के जनता के प्रजातन्त्र ( १९४६ ), बर्मा ( १९४७ ), लंका ( १९४८ ) और भारत ( १९५० ) के संविधान नये थे ; ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया में १९२० के पुराने संविधानों को कुछ परिवर्धनों के साथ फिर से जिलाने का प्रयत्न किया गया। किन्तु वह प्रयत्न १९४८ में कम्युनिस्ट विप्लव तथा बाद में 'जनता के जनवादी प्रजातन्त्र' के लिए नया संविधान स्वीकार कर लेने से चेकोस्लोवाकिया में सफल नहीं हो सका।

संविधानों के उत्थान-पतन की इस गाथा से यह स्पष्ट है कि यूरोप में ऐसे बहुत कम देश हैं जिनका संवैधानिक इतिहास का अनुभव पर्याप्त दीर्घ तथा स्थिरतापूर्ण रहा हो। उससे इस सम्बन्ध में कोई उपयोगी जानकारी नहीं मिलती कि नियमित संवैधानिक संशोधन किस प्रकार कार्यान्वित हुए हैं और उनकी सफलता कितनी है। वास्तव में यूरोप के अधिकांश देशों के संविधानों की उचित परख ही नहीं हो पायी; उनको यह दिखाने का अवसर ही नहीं मिला कि वे कार्योपयोगी हैं भी है या नहीं।

मोटे तौर पर यही स्थिति मध्य तथा दक्षिणी अमरीका में पायी जाती है। ऐसे बहुत थोड़े से प्रजातन्त्र हैं जिनमें संविधान के अनुसार बीस साल तक एक साथ शासन चलता रह सका हो। कुछ-कुछ जगह तो एक के बाद एक संविधान तीव्र गति से ओर एक-सी निष्फलता के साथ आता-जाता रहा है। १९३३ और

१९४८ के बीच लैटिन अमरीका में १४ नये संविधान स्वीकृत हुए, उनमें से तीन अकेले ब्राजील में थे—१९३४ में, फिर १९३७ में, और फिर १९४६ में। यह सही है कि बहुत बार इन नये संविधानों में अपने पूर्ववर्त्ती संविधान की बातों को ही बहुत कुछ दोहराया गया है, पर व्यवहार में जिस तेजी के साथ अधिकांश लैटिन अमरीकी देशों में संविधान बनते और बिगड़ते हैं उसमें उनके व्यवस्थित विकास का कोई भी अध्ययन असम्भव है।

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि संविधानों की संशोधन-पद्धति का कोई भी अध्ययन यूरोप तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के कुछ देशों के संविधान तथा संयुक्त राज्य के संविधान तक ही सीमित रहेगा। यदि हम इन देशों के बारे में यह प्रश्न पूछें कि 'क्या संविधानों में जल्दी-जल्दी संशोधन होता है ?' तो उत्तर शायद यही होगा कि कुछेक अपवादों को छोड़कर अधिकांश में नहीं होता। इस बात पर विचार करना दिलचस्प होगा कि ऐसा क्यों है।

यदि हम पहले एकात्मक संविधानों पर नजर डालें तो हमें पता चलता है कि संशोधन के प्रस्तावों का एक बड़ा भारी कारण—अधिकारों के विभाजन में परिवर्त्तन—उनमें हैं ही नहीं। एकात्मक राज्य में विकेन्द्रीकरण अथवा केन्द्रीकरण की मात्रा साधारण कानून द्वारा नियन्त्रित की जा सकती है। तो फिर ऐसी कौन-सी बातें बचीं जिनसे संशोधन की माँग उठने की सम्भावना है ? बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों में केवल दो ही ऐसी बातें उठी जान पड़ती हैं—मत देने का अधिकार तथा मतदान की पद्धति। मताधिकार के विस्तार के लिए, पुरुषों के मताधिकार अथवा बाद में स्त्रियों के मताधिकार के प्रारम्भ के लिए बहुत बार संविधान बदले गये हैं। इस भाँति स्वीडिश संविधान में १९०९ में पुरुषों को मताधिकार देने के लिए संशोधन हुआ और १९२१ में स्त्रियों को मताधिकार देने के लिए। नॉर्वे में कई एक संशोधनों के बाद अन्त में १९१३ में पुरुषों का मताधिकार स्वीकृत हो पाया और स्त्रियों को मताधिकार सीमित रूप में १९०७ में मिला और पुरुषों के ही बराबर १९१३ में। डेनमार्क के १८६३ के संविधान का आमूल संशोधन १९१५ में हुआ जिसका उद्देश्य था कि पचीस वर्ष से अधिक आयुवाले तमाम नागरिकों का मत देने का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय और विधान-मण्डल की उच्च सभा के सदस्य चुनने की पद्धति में व्यापकतर मताधिकार की

व्यवस्था हो सके। इन तीनों स्कैन्डीनेवियन देशों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व शुरू करने के लिए भी संविधानों में संशोधन हुए—स्वीडन में १९०९ में, नॉर्वे में १९१३ में और डेनमार्क में १९१५ में। हॉलैंड और बेल्जियम में भी ऐसे ही परिवर्त्तन किये गये थे। हॉलैंड में १९१७ और १९२२ के संवैधानिक संशोधनों द्वारा मताधिकार में विस्तार किया गया और बेल्जियम में १९२० तथा १९२१ के संशोधनों द्वारा। आनुपातिक प्रतिनिधित्व हॉलैंड में १९१७ में शुरू हुआ और बेल्जियम में १८९३ में।

अब यदि संशोधन-पद्धति के उपयोग के अनुभव को हम संघात्मक संविधानों के मामले में देखें—विशेषकर संयुक्त राज्य, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और स्विट्ज़रलैंड के बारे में—तो हमें पता चलेगा कि संविधानों में संशोधन करने के विषय में अलग-अलग जातियों का रुख अलग-अलग होता है। संयुक्त राज्य का संविधान १७८९ में स्वीकृत हुआ था और १९५१ तक उसमें बाईस बार नियमित संशोधन हो पाया है। इनमें से भी पहले दस संशोधन तो १७९१ में ही हो गये थे और वास्तव में वे मूल संविधान के ही भाग थे। १७९१ के बाद से डेढ़ सौ से अधिक वर्षों में अमरीकी संविधान में केवल बारह बार ही संशोधन हुआ है। स्विट्ज़रलैंड का हाल इससे ठीक उलटा है। १८४८ के स्विस संविधान में पहले पचास बरस में तो केवल ग्यारह बार संशोधन हुआ था, पर बाद के पचास बरसों में उसमें सैंतीस बार संशोधन हो चुका है। ऑस्ट्रेलिया में संविधान में संशोधन की पद्धति स्विट्ज़रलैंड जैसी ही है—उसके लिए न केवल विधानमण्डल के समर्थन की जरूरत पड़ती है बल्कि जनमतग्रहण में बहुसंख्यक मतदाताओं के और संघ के बहुसंख्यक राज्यों के बहुसंख्यक मतदाताओं के समर्थन की भी जरूरत होती है। ऑस्ट्रेलिया के संविधान को स्वीकृत हुए पचास बरस से अधिक हो चुके हैं, इस बीच में उसमें केवल चार बार संशोधन हुआ है। अन्त में कनाडा का १८६७ का संविधान लीजिये। १९५० तक उसमें संशोधन केवल ब्रिटेन की पार्लियामेंट ही कर सकती थी और इसपर भी इस बीच में उसमें कम-से-कम चौदह बार संशोधन हुआ—यद्यपि इस कथन की गुंजाइश मौजूद है कि और भी संशोधनों की सम्भावना भी अवश्य थी।

इन चार देशों के अनुभव से क्या निष्कर्ष निकलता है? क्या नियमित संशो-

धन की पद्धति बहुत कठिन होती है ? क्या उसमें बहुत-सी बाधाएँ मौजूद रहती हैं ? यह अक्सर कहा जाता है कि, ऑस्ट्रेलिया और स्विट्ज़रलैंड की भाँति, संशोधन के लिए जनमतग्रहण की शर्त्त लगाना, विशेषकर जनता से दो-दो हैसियतों से राय लेने की शर्त्त लगाना, संशोधन पद्धति में बहुत अधिक रुकावटें डालना है। यह भी कहा जाता है कि जनता के अज्ञान, उदासीनता अथवा सरकार के प्रति सन्देह के कारण, इस बात की आशंका रहती है कि वह संवैधानिक संशोधन के विरुद्ध मतदान करे। ऑस्ट्रेलिया के अनुभव से इस युक्ति का समर्थन होता जान पड़ता है। वहाँ १९५० तक ग्यारह पृथक् अवसरों पर संविधान में संशोधन के तेईस प्रस्ताव रखे गये, जिनमें से केवल चार ही स्वीकृत हो सके। यहाँ इस बात पर जोर देना जरूरी है कि तीन बार को छोड़कर बाकी प्रत्येक अवसर पर संशोधन का प्रस्ताव केवल इसीलिए अस्वीकृत नहीं हुआ कि बहुसंख्यक राज्यों के बहुसंख्यक मतदाताओं ने उनका समर्थन नहीं किया, बल्कि इसलिए भी कि तमाम मत देनेवालों में से भी बहुसंख्यक ने उनका समर्थन नहीं किया। इसलिए केवल तीन अवसरों के बारे में यह कहा जा सकता है कि संविधान के अतिरिक्त संरक्षण से बहुसंख्यक जनता की इच्छा के पूरा होने में रुकावट पड़ी। जो हो यह स्पष्ट है कि अपने संविधान में संशोधन करने के मामले में ऑस्ट्रेलिया की जनता ने अनुदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

पर जब हम स्विट्ज़रलैंड के अनुभव पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता हर जगह अनुदार नहीं होती। १८४८ से लगाकर अगले सौ वर्षों में संविधान संशोधन के छियानवे प्रस्ताव जनता के सामने रखे गये जिनमें से अड़तालीस स्वीकृत हुए। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि १८७४ में संविधान के सामान्य रूप से फिर से ठीक किये जाने के बाद से विधानमण्डल ने संवैधानिक संशोधन के इकतालीस प्रस्ताव जनता के सामने रखे जिनमें से चौंतीस स्वीकृत हो गये। ५०,००० मतदाताओं की अगुवाई में रखे गये प्रस्तावों को स्वीकार करने में जनता ने अपेक्षाकृत कहीं कम तत्परता दिखाई है—ऐसे पैंतीस प्रस्तावों में से केवल सात ही स्वीकृत हुए। कम-से-कम इतना स्पष्ट है कि यदि स्विट्ज़रलैंड का विधानमण्डल संवैधानिक संशोधन के पक्ष में हो तो जनता की ओर से उसमें बहुत कम रुकावट पैदा होती है, यद्यपि संशोधन के पक्ष में उसका सम-

र्थन प्राप्त करने के लिए काफी बाधाओं को पार करना जरूरी होता है। इससे यह लगता है कि संशोधन की पद्धति चाहे जितनी कठोर हो, उसका आसानी से होना या न होना जनता के दृष्टिकोण पर ही निर्भर होता है। यह बात थोड़ी-बहुत आश्चर्य-जनक ही लगती है कि परिवर्त्तन के प्रस्ताव स्वीकार करने के मामले में उग्रपन्थी ऑस्ट्रेलियावासियों की तुलना में पुराणपन्थी कहे जानेवाले स्विट्ज़रलैंडनिवासी अधिक तत्पर सिद्ध हुए हैं।

अमरीकी संघ के राज्यों के अनुभव पर नजर डालने से यह लगता है कि सं-वैधानिक संशोधन के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करने की शर्त्त—जो किसी-न-किसी रूप में अड़तालीसों संविधानों में मिलती है—वास्तविक संशोधन के प्रायः स्वीकृत होने में आवश्यक रूप से सदा बाधा ही नहीं डालती। एक ओर टेनेसी राज्य में १८७० में संविधान स्वीकृत होने के बाद से अस्सी बरस के भीतर कोई संशोधन नहीं हुआ, और इलीनुआ ( १८७० ) के तथा केनटकी ( १८९१ ) के के संविधानों में बहुत ही थोड़े से संशोधन हुए हैं। दूसरी ओर दक्षिणी कैरोलिना, कैलीफोर्निया, ज्यार्जिया और लुइसियाना राज्यों के संविधानों में सौ से अधिक संशोधन हो चुके हैं। संवैधानिक परिवर्त्तन के मामले में हर राज्य के निवासी भिन्न होते हैं।

जब हम आधुनिक संविधानों में नियमित संशोधन-पद्धति की उपयुक्तता के बारे में कोई निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई उचित सामान्य सिद्धान्त बनाना कठिन है। ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करना सम्भव है जिनमें संशोधन बहुत ही छोटी-सी कमी के कारण नहीं हो सका और जहाँ परि-वर्त्तन के रास्ते में ऐसी बड़ी-बड़ी रुकावटें रखना हास्यास्पद जान पड़ता है। डेन-मार्क का अनुभव शायद इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। १९३९ में संविधान में संशो-धन के प्रस्ताव आम निर्वाचन के पहले और बाद में दोनों विधान-सभाओं द्वारा स्वीकृत होकर, जैसा कि १९१५ में संशोधित संविधान का नियम था, जनता के समर्थन के लिए रखा गया। संविधान की शर्त्त है कि संशोधन स्वीकृत होने के लिए न केवल तमाम मत देनेवालों में से बहुसंख्यक का समर्थन चाहिये, बल्कि मता-धिकार-प्राप्त जनता में से कम-से-कम ४५ प्रतिशत का समर्थन पाना भी जरूरी है। इस अवसर पर प्रस्तावों को मत देनेवालों में बहुसंख्यकों का समर्थन तो मिल गया

पर मताधिकार-प्राप्त लोगों में से केवल ४४.४६ प्रतिशत का ही समर्थन मिल सका।

यह चरम परिस्थिति का उदाहरण है और वास्तव में ऐसी चरम परिस्थितियों से सामना होने के बजाय उनकी कल्पना करना कहीं अधिक आसान है। इस भाँति यह प्रायः कहा जाता है कि संयुक्त राज्य के संविधान में संशोधन की एक शर्त्त यह है कि प्रस्तावित संशोधन को काँग्रेस की प्रत्येक सभा में दो-तिहाई मत से स्वीकृत होने के बाद, तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन भी मिलना चाहिये। इस भाँति तेरह ऐसे राज्य, जिनकी कुल आबादी मिलाकर अकेले न्यूयॉर्क राज्य की आबादी से कम है, बाकी पैंतीस राज्यों की इच्छा पूरी होने से रोक सकते हैं—अर्थात् दस फीसदी लोग नब्बे फीसदी की इच्छा में बाधा डाल सकते हैं। वास्तव में ऐसा कभी हुआ नहीं है। जब भी काँग्रेस ने संशोधन का प्रस्ताव रखा है, साधारणतः वह स्वीकृत ही हुआ है—काँग्रेस द्वारा प्रस्तावित सत्ताईस संशोधनों में से बाईस स्वीकृत हुए हैं और एक बार प्रस्तावित होने के बाद उनके स्वीकृत होने में बहुत ही कम देर लगी है। १९१३ से लगाकर १९३३ तक के बीस बरसों में छह संशोधन कार्यान्वित हुए। पहला काँग्रेस के आयकर लगाने के अधिकार की बाधाएँ हटाने के बारे में था जो काँग्रेस द्वारा १९०९ में प्रस्तावित हुआ और १९१३ में स्वीकृत हो गया। दूसरा राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा सिनेटरों के अप्रत्यक्ष के बजाय प्रत्यक्ष चुनाव करने के पक्ष में था; वह १९१२ में प्रस्तावित हुआ और १९१३ में स्वीकृत हो गया। तीसरा मद्य-निषेध लागू करने के लिए १९१७ में प्रस्तावित हुआ और १९१९ में स्वीकृत हो गया। चौथा स्त्रियों को मताधिकार देने के बारे में १९१९ में प्रस्तावित हुआ और १९२० में स्वीकृत हो गया। पाँचवाँ काँग्रेस के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदाधिकार के नियमों में समायोजन करने के लिए था; वह १९३२ में प्रस्तावित हुआ और १९३३ में स्वीकृत हो गया। और छठा, जो १९१९ के मद्य-निषेधवाले संशोधन को वापिस लेने के लिए था, फरवरी १९३३ में प्रस्तावित होकर नवम्बर १९३३ में स्वीकृत हो गया। दूसरी ओर, एक व्यक्ति कितनी बार राष्ट्रपति बन सकता है इसकी संख्या को सीमित करनेवाले संशोधन को स्वीकृत होने में चार वर्ष लग गये। वह जनवरी १९४७ में प्रस्तावित हुआ और फरवरी १९५१ में स्वीकृत हो पाया। कहना अनावश्यक है कि इनमें से कुछेक संशोधनों के लिए काँग्रेस में स्वीकृत होने के

पहले काफी लम्बे समय तक आन्दोलन करने की जरूरत हुई, पर एक बार यह कार्य पूरा होने के बाद पर्याप्त राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति साधारणतः मिल ही गयी और जल्दी ही मिली।

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि यदि अमरीकी संविधान में संशोधन की पद्धति अधिक सरल होती तो १८६१–६५ का गृहयुद्ध टल सकता था या नहीं। गृहयुद्ध शुरू होने के पहले के वर्षों में कई बार ऐसे प्रयत्न किये गये कि संविधान में उत्तर और दक्षिण दोनों को स्वीकार होने वाले संशोधन हो जायें, पर उनमें से किसी भी प्रस्ताव को पर्याप्त समर्थन न मिल सका। यह सही है कि उत्तर के संशोधन सम्बन्धी प्रस्तावों पर थोड़े से दक्षिणी राज्य जिस प्रकार अपने सिनेटरों द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग करवा लेते थे उससे उत्तरी राज्यवालों में झल्लाहट, कुण्ठा और क्षोभ जाग्रत हो गया था। यह भी सही है कि दक्षिणवासी जैसे-जैसे संघ में अधिकाधिक स्वाधीन राज्य स्थापित होते देखते थे, वैसे-वैसे उनको यह अनुभव होता जाता था कि उनका निषेधाधिकार एक दिन निष्फल अवश्य हो जायगा और वे हताश होकर सम्बन्ध-विच्छेद करने पर उतारू हो रहे थे। परन्तु यदि संशोधन की पद्धति अधिक सरल होती, यदि उत्तरवासियों को साधारण बहुमत से अपनी इच्छा पूरी करने की सुविधा होती, संक्षेप में यदि संयुक्त राज्य के बहुसंख्यक निवासी संविधान में संशोधन करने के लिए अल्पसंख्यकों की बात न मानने को स्वतन्त्र होते, तो ज्योंही ऐसा संशोधन स्वीकृत होता त्योंही दक्षिणवासी अवश्यमेव संघ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते। यह सम्भव है कि संशोधन-पद्धति के कारण उत्तर और दक्षिण के मतभेद संविधान के ऊपर केन्द्रीभूत हो गये हों, पर वे मतभेद न तो उसके कारण उत्पन्न हुए थे न तीव्रतर ही हुए थे। गृहयुद्ध हो चुकने तथा उत्तरवासियों के विजयी हो जाने के बाद ही यह सम्भव हो सका कि संविधान में उत्तरवासियों के इच्छानुसार संशोधन किया जा सके। सच पूछा जाय तो यह कहा जा सकता है कि अमरीकी संविधान की संशोधन-पद्धति संयुक्त राज्य की जनता के सरकार के प्रति दृष्टिकोण तथा मतामत के विभाजन के बहुत ही अनुकूल है। यदि उन्हें साफ-साफ यह लगने लगे कि परिवर्त्तन की आवश्यकता है तो उसे प्राप्त करने में उन्हें देर नहीं लगती। यदि उनके मन में सन्देह है और वे एकमत नहीं हैं तो उन्हें धीरे-धीरे चलना पड़ता है, जो उचित ही है।

अमरीकी संविधान के बारे में जिस प्रश्न पर अभी विचार किया गया उस पर यूरोप तथा दुनिया के उन संविधानों के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है जो खत्म हो चुके हैं या अस्वीकृत हो गये हैं। क्या सरलतर संशोधन-पद्धति अथवा संशोधन-पद्धति के अधिकतर उपयोग से वे संविधान अधिक काल तक टिके रह सकते थे? क्या उनमें बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप सफलता-पूर्वक बना रह सकना सम्भव था? बहुत बार इन संविधानों की असफलता अथवा उनका पतन ऐसी शक्तियों के परिणामस्वरूप हुआ जो संशोधन-पद्धति के माध्यम से अपने आप को व्यक्त करने में असमर्थ थीं। उनमें से बहुतों के मिटने का कारण युद्ध में होनेवाली पराजय थी। बहुत से संविधान इसलिए खत्म हुए कि उनमें अभिव्यक्त होनेवाली मौजूदा व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से चलाये गये क्रान्तिकारी आन्दोलन युद्ध अथवा विप्लव के फलस्वरूप सफल हो गये और उन्होंने संविधान को भंग कर दिया। इस तरह के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के आगे अधिक-से अधिक सरल और आसान संशोधन-पद्धति भी निरर्थक हो जाती है। क्रान्तियाँ प्रायः ऐसे अल्पसंख्यकों द्वारा की जाती हैं जो वैधानिक संशोधन की पद्धति से कभी अपना उद्देश्य पूरा न कर सकते। फिर कभी-कभी संविधानों को ऐसी सरकारें भी भंग करती अथवा मिटाती हैं जो उन्हें अवहेलना की दृष्टि से देखती हैं और उनमें संशोधन करने का कष्ट नहीं उठाना चाहतीं। वे चाहें तो उनमें संशोधन कर सकती हैं, पर वे इसके बजाय अधिक प्रत्यक्ष उपायों द्वारा अपना उद्देश्य पूरा करना बेहतर समझती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जितने संविधान मिटे हैं उनमें से अधिकांश इसी श्रेणी में आते हैं।

शायद तीसरे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान के उदाहरण पर विचार करना सबसे अधिक दिलचस्प है। वह सदा से ही विवादास्पद वस्तु रहा। उसे सब नागरिकों का विश्वास कभी प्राप्त नहीं हुआ। पर तो भी वह बहुत ही टिकाऊ सिद्ध हुआ और १८७५ से १९४० तक चला। उन पैंसठ बरसों में केवल तीन नियमित संशोधन उस संविधान में किये गये। एक १८७९ में राजधानी को वार्साइ से पेरिस लाने के लिए; दूसरा १८८४ में यह नियम बनाने के लिए कि प्रजातन्त्रीय सरकार को प्रस्तावित संशोधन का विषय नहीं बनाया जाय तथा फ्रांस पर शासन कर चुकनेवाले राजवंशों के सदस्यों को प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति बनने का अधिकार

न हो ; और तीसरा १९२६ में जिसके द्वारा मोशिये पोइनकारे की वित्तसम्बन्धी नीतियों को एक निधि बनाकर संवैधानिक सहारा दिया गया। यह ऐसा संविधान था जो कम-से-कम ऊपर तो जनता को सन्तुष्ट करता जान पड़ता था, पर जो १९४० की पराजय होते ही मृतप्राय हो गया और १९४५ की विजय के बाद एक नया संविधान बनाकर नये सिरे से शुरुआत करना ही श्रेयस्कर समझा गया। तो भी यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि यदि फ्रांसीसी संविधान में और अधिक बार संशोधन हो सका होता तो वह अधिक दिन तक टिक सकता था। उसके संशोधन की पद्धति भी कोई जटिल न थी—संशोधन के लिए वार्साइ में दोनों विधान-सभाओं की सम्मिलित बैठक में सिर्फ साधारण बहुमत भर की आवश्यकता होती थी। असल में फ्रांस की राजनीतिक व्याधियों का उपचार संविधान के नियमों में संशोधन करके नहीं हो सकता था। देश का राजनीतिक ढाँचा, उसकी पार्टी-प्रथा, उसके निवासियों के गहरे मतभेद, इन सबसे सरकार की स्थिति में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी। तो भी यह भविष्यवाणी करना अनुचित नहीं है कि यदि १९४० में फ्रांस की हार न हुई होती, तो १८७५ का संविधान शायद किसी और संशोधन के बिना ही जीवित रहा आता। यह बात, कि चौथे प्रजातन्त्र के संविधान में तीसरे प्रजातन्त्र के संविधान से बहुत कुछ समानता है, इस बात का सबूत है कि पुराने समझौतों में कुछ सार अवश्य था।

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकतर जिन देशों ने अपने संविधानों को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार किया है वे अपनी संशोधन-पद्धतियों का पर्याप्त उपयोग कर सके हैं और हम यह कह सकते हैं कि उनकी पद्धति अनावश्यक रूप से कठोर या कष्टदायक नहीं सिद्ध हुई। इस बात को भी मानना और उसपर जोर देना जरूरी है कि कुछ राजनीतिक रोग या राजनीतिक विवाद अवश्य ऐसे होते हैं कि उनका सन्तोषजनक उपचार सरल-से-सरल और 'शिथिल' से शिथिल संवैधानिक संशोधन-पद्धति द्वारा सम्भव नहीं। साथ ही यह बात भी कहना आवश्यक है कि कुछेक देशों में संशोधन-पद्धतियाँ अवश्य ऐसी हैं जिनकी आलोचना करना उचित है। डेनमार्क जैसी अनावश्यक रूप से कठोर शर्तों के उदाहरण के अलावा बहुत से संविधानों की संशोधन-पद्धति में अनावश्यक एकरूपता पायी जाती है। कुछ संविधानों में किसी भी अंश में किसी भी प्रकार का संशोधन केवल एक ही

प्रकार की पद्धति द्वारा हो सकता है। यह सम्भव है कि मूलतः यह पद्धति संविधान के किसी विशेष अंश के सुरक्षण के लिए ही बनायी गयी हो, पर धीरे-धीरे उसके क्षेत्र में समूचा संविधान आ गया है। यह अनावश्यक है। यह कहना सर्वथा उचित है कि किसी भी संविधान के कुछ अंश तो साधारण बहुमत द्वारा बदले जा सकते हैं, और कुछ अंश केवल जनता के समर्थन द्वारा ही। उदाहरण के लिए संघात्मक संविधान के कुछ अंशों को तो बहुसंख्यक राज्यों की जनता अथवा विधानमण्डलों की सहमति से बदलना ठीक है, और कुछ को सब राज्यों के सर्वसम्मत समर्थन से। यह सही है कि कुछ संविधानों में इस प्रकार की विविधता मौजूद है, पर बहुतों में ऐसी एकरूपता भी पायी जाती है जिससे संविधान के विभिन्न अंशों के संशोधन में बिल्कुल अनावश्यक बाधा पैदा होने लगती है।

इस दृष्टि से भारतवर्ष के संविधान में अच्छा सन्तुलन है। उसमें संविधान के उन अंशों के संशोधन के लिए, जिनमें संघ और राज्यों के बीच अधिकारों का विभाजन किया गया है, अतिरिक्त संरक्षण रखे गये हैं और उनके संशोधन के लिए कम-से-कम आधे राज्यों की सहमति आवश्यक होती है। पर संविधान के बाकी अंशों का संशोधन विधानमण्डल द्वारा किया जा सकता है, शर्त्त केवल यही है कि उसे प्रत्येक विधान सभा के सदस्यों के पूर्ण बहुमत तथा उपस्थित और मत देने-वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। कुछ संविधानों में ऐसे भी नियम मिलते हैं जो तब तक सक्रिय रहते हैं जब तक विधानमण्डल कोई दूसरा नियम न बना दे, और इस भाँति संविधान का एक अंश भिन्न संशोधन-पद्धति के अधीन हो जाता है। संशोधन-पद्धति की यह विविधता बड़ी अच्छी चीज है पर इसका उपयोग बहुत ही कम पाया जाता है।

यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि बहुत से संविधानों की संशोधन-पद्धति में जो संरक्षण शामिल होता है उसका दुरुपयोग किया जा सकता है। संविधान इस-लिए भी पुराने और असुविधाजनक हो जाते हैं क्योंकि उनके परिवर्तन के लिए बड़े भारी प्रयत्न की आवश्यकता होने लगती है। अमरीकी संघ के कुछ राज्यों के संविधानों में यह बात स्वीकार भी की जाती है। यह प्रवृत्ति भी एक प्रकार का दुरुपयोग ही है कि संविधान में ऐसी धाराएँ और संशोधन शामिल कर दिये जायें जिनका स्वरूप सचमुच संवैधानिक नहीं होता। इस प्रकार से नीतियों को साधा-

रण कानून से जितना मिल सकता है उससे कहीं अधिक संरक्षण दे दिया जाता है। वह प्रवृत्ति शायद संयुक्त राज्य में सबसे अधिक पायी जाती है और इसके फल-स्वरूप राज्यों के संविधान बड़े लम्बे, दुर्व्यवस्थित और विसंगतिपूर्ण हो गये हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि वे विधानमण्डल और कार्यकारिणी पर ऐसे मामलों में भी बन्धन लगाते हैं जो न्यायतः उन्हीं के अधिकार की हैं, जैसे कर्मचारियों के वेतन, सम्पत्ति सम्बन्धी कानून, श्रम सम्बन्धी परिस्थितियाँ, रुपया उधार लेने से सम्बन्धित मामले, न्यायव्यवस्था का संगठन, स्कूलों के बोर्डों का संगठन, इत्यादि इत्यादि। साथ ही इन राज्यों के अधिकांश नागरिकों को यह समझना कठिन होगा कि वे कुछ कानूनों को दूसरों से अधिक बुनियादी और श्रेष्ठतर बना देने के अपने इस अधिकार का उपयोग न करें। अमरीकी अपनी सरकार को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इस कारण वह अपने संविधान की कठोर संशोधन-पद्धति को अच्छा समझता है और इसके उपयोग को सर्वथा संवैधानिक के अतिरिक्त क्षेत्रों तक फैला बैठता है।

तो भी यह कहा जा सकता है कि साधारणतः जहाँ लोग संवैधानिक शासन के अन्तर्गत रह चुके हैं, अर्थात् जहाँ संविधान सक्रिय रहा है और जहाँ उसको आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है, वहाँ नियमित संशोधन की पद्धति कभी भी ऐसी कठिन नहीं सिद्ध हुई है कि उससे लोगों की किसी तीव्र आवश्यकता के अनुरूप संविधान को ढाला न जा सके। जब कोई संविधान नष्ट होता है अथवा अस्वीकृत होता है तो यह कहना कठिन होगा कि अत्यधिक कठोर संशोधन-पद्धति ने उसके निरर्थक होने में योग दिया है। पर इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि नियमित संशोधन-पद्धति के समुचित सिद्ध होने का एक कारण यह भी है अधिकांश संविधानों में वह अकेली ही सक्रिय नहीं होती। किसी संविधान के परि-वर्त्तन में दूसरी प्रक्रियाएँ भी योग देती रहती हैं और अब उनमें से एक सबसे महत्त्वपूर्ण पद्धति—न्याय-सम्बन्धी व्याख्या—पर हम विचार करेंगे।

---

# ७ : संविधान कैसे बदलते हैं : न्यायालयों की व्याख्या

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न पूछा जाना स्वाभाविक है कि संविधान की व्याख्या का कार्य अदालतों और न्यायाधीशों के पास किस प्रकार से पहुँच जाता है। उत्तर संक्षेप में इस भाँति दिया जा सकता है। विवाद उत्पन्न होने पर यह निर्णय करने का काम कि कानून क्या है, न्यायाधीशों का ही है। संविधान भी कानून का ही अंग है इसलिए वह न्यायाधीशों के कार्य-क्षेत्र में आता है। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि संविधान के बीच तथा किसी कानून के अथवा कार्यकारिणी या विधानमण्डल के किसी कार्य के बीच विरोध दिखाई दे। यदि ऐसे मामलों में न्यायाधीशों को इस बात का निर्णय करना पड़े कि कानून क्या है, तो उन्हें न केवल साधारण कानून के नियम का अर्थ निश्चित करना पड़ेगा बल्कि संविधान के कानून का भी अर्थ बताना पड़ेगा। और यदि किसी संविधान की शर्त्तों के अनुसार उसके द्वारा स्थापित संस्थाओं पर कुछ बन्धन लगे हुए हों तो अदालतों को यह निर्णय भी करना पड़ता है कि उन संस्थाओं के कार्य उन बन्धनों का उल्लंघन तो नहीं करते, और ऐसा करने में न्यायाधीशों को सविधानों का अर्थ बताना पड़ता है।

संविधान की न्याय-सम्बन्धी व्याख्या का तर्कसंगत औचित्य मुख्य न्यायाधीश मार्शल के शब्दों में सबसे अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त हुआ है। संयुक्तराज्य के

सर्वोच्च न्यायालय ने १८०३ में **मारबरी बनाम मैडीसन** ( १ क्रैन्च १३७ ) के मामले में काँग्रेस के एक अधिनियम को अवैध घोषित किया। उस निर्णय में उन्होंने कहा था : "निस्संदेह ही यह बताना न्याय विभाग का अधिकार-क्षेत्र और कर्त्तव्य है कि कानून क्या है। जो लोग नियम को विशेष परिस्थिति में काम में लाते हैं उन्हें आवश्यक रूप से उस नियम का प्रतिपादन और व्याख्या करनी पड़ती है। यदि दो कानूनों में परस्पर-विरोध दिखाई पड़े तो अदालतें ही दोनों के कार्य के बारे में निर्णय देती हैं। इस भाँति यदि कोई कानून संविधान के विपरीत पड़ता हो, और यदि कानून और संविधान दोनों ही किसी विशेष मामले में इस तरह लागू होते हों कि अदालत या तो संविधान की उपेक्षा करके कानून के पक्ष में निर्णय दे अथवा कानून की उपेक्षा करके संविधान के पक्ष में निर्णय दे, तो ऐसी अवस्था में अदालत को यह निर्णय करना ही पड़ेगा कि इन दोनों परस्पर-विरोधी नियमों में से कौन-सा उस परिस्थिति-विशेष में लागू होता है। यह तो न्याय-व्यवस्था-सम्बन्धी कर्त्तव्य की सारभूत बात है। फिर अगर अदालतों को संविधान को मान्यता देनी है और संविधान विधानमण्डल के साधारण कानूनों से उच्चतर है, तो ऐसी परिस्थितियों में जहाँ दोनों लागू हो सकते हों वहाँ साधारण कानून नहीं, संविधान को ही प्रधानता दी जायगी।"

सारी बात का सार यह है कि संविधान के प्राधिकार से स्थापित और उसी के द्वारा दिये हुए अधिकारों का उपयोग करने वाली प्रत्येक संस्था का तो यह कर्त्तव्य है कि वह इन अधिकारों की सीमा के भीतर ही रहे, पर यह बताना स्वभाव से ही अदालतों का कर्त्तव्य है कि वे सीमाएँ हैं कौन-सी। यही कारण है कि संविधान की व्याख्या का काम अदालतों के हाथ में भी आ जाता है।

कुछ संविधानों में अदालतों का यह कर्त्तव्य स्पष्ट शब्दों में मान्य होता है। इस भाँति आयरलैंड के प्रजातन्त्र के संविधान में उच्च न्यायालय को और अपील होने पर सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वे संविधान की धाराओं से सम्बन्धित किसी भी अन्य साधारण कानून की वैधता पर निर्णय दे सकें ( धारा ३४ )। कई बार अदालतों का संविधान की व्याख्या करने का अधिकार संविधान से ही अथवा न्याय-व्यवस्था के स्वरूप से ही निकल आता है। संयुक्त राज्य में यही स्थिति जान पड़ती है और मुख्य न्यायाधीश मार्शल के ऊपर उद्धृत शब्दों को

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा वह अधिकार अपने हाथ में ले लेने के सम्बन्ध में सर्वप्रथम और अधिकृत कथन माना जा सकता है। अधिकांश देशों में जहाँ कानून के सम्बन्ध में अँग्रेजी-अमरीकी दृष्टिकोण स्वीकृत है अथवा उसका प्रभाव पड़ा है, वहाँ यह स्वीकार किया जाता है कि अदालतों को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है, और आवश्यकता पड़ने पर इस बात का भी अधिकार है कि विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किसी कानून को इस आधार पर अवैध घोषित कर सकें कि वह संविधान के विरुद्ध पड़ता है। उदाहरण के लिए न्यायालयों द्वारा संविधान की समीक्षा का चलन ऑस्ट्रेलिया और उसके छहों राज्यों में, अमरीकी संघ के अड़तालीसों राज्यों में, कनाडा और उसके दसों प्रान्तों में, भारतवर्ष में और मध्य तथा दक्षिण अमरीका के प्रजातन्त्रों में सर्वत्र पाया जाता है। यूरोपीय देशों में से स्विट्ज़रलैंड के प्रान्तों में पाया जाता है, वहाँ की संघीय सरकार में नहीं ; इसके अतिरिक्त वह १९२० के ऑस्ट्रिया के संविधान में और १९४८ के इटालियन संविधान में भी शामिल किया गया था।

अदालतों के इस कार्य की सीमा संविधान की शर्तों के अनुसार भिन्न-भिन्न ही होगी। यदि कोई संविधान सरकार पर, विशेषकर विधानमण्डल पर, बहुत प्रतिबन्ध लगाता है तो अदालतों की व्याख्या माँगने के अवसर और भी ज्यादा होंगे। साधारणतः अदालत स्वयं इस मामले में कोई अगुवाई नहीं करती। वह तभी संविधान की व्याख्या करती है जब किसी मुकदमे के सिलसिले में उसके सामने संविधान के अर्थ से सम्बन्धित कोई सवाल उठ खड़ा हो। उदाहरण के लिए आयरलैंड, भारतवर्ष और कनाडा आदि देशों में कानून में इस बात की व्यवस्था है कि कार्यकारिणी भी विधानमण्डल के किसी विधेयक अथवा अधिनियम को अथवा किसी कानून-सम्बन्धी प्रश्न को अदालत के सामने इस उद्देश्य से ला सकती है कि संविधान की व्यवस्था के अनुसार उसकी वैधता के विषय में अदालत की राय जानी जा सके। ऐसा होने पर किसी मुकदमे के पेश हुए बिना ही उस कानून की वैधता के बारे में निर्णय किया जा सकता है और उसकी वैधता के बारे में यदि कोई सन्देह हो तो वह दूर किया जा सकता है। पर यहाँ भी यह बात ध्यान देने की है कि अगुवाई अदालत की ओर से नहीं होती।

किन्तु यह नहीं मान लेना चाहिये कि हर देश में अदालतों को संविधान की

व्याख्या करने और उसके फलस्वरूप विधानमण्डलों के अधिनियमों को अवैध घोषित करने का अधिकार प्राप्त है। कभी-कभी तो कुछ संविधान कम-से-कम अपने कुछ अंशों को अदालतों के अधिकार क्षेत्र से बाहर ही रख देते हैं। आयरलैंड और भारतवर्ष के संविधान में, उदाहरण के लिए, यह कह दिया गया है कि कोई अदालत इस बात की ओर ध्यान न दे कि संसद द्वारा बनाये गये कानून किस हद तक संविधान में प्रतिष्ठित सामाजिक नीति के सिद्धान्तों की घोषणा के अनुरूप हैं। स्विट्ज़रलैंड के संविधान में (धारा ११३ में) यह कहा गया है कि संघीय न्यायालय को प्रान्तीय कानूनों को अवैध घोषित करने का तो अधिकार है, पर संघीय विधानसभा के कानूनों को उसे कोई प्रश्न उठाये बिना लागू करना होगा। यह मानना उचित ही है कि इन देशों में यदि संविधान वर्जित न करता तो अदालतों को यह निर्धारित करने का अधिकार होता कि ऐसे कानून संविधान के अनुरूप हैं या नहीं।

कुछ देशों के संविधान इस विषय में कहते तो कुछ नहीं कि अदालतों को उसकी व्याख्या का अधिकार है या नहीं, किन्तु यह सिद्धान्त सर्वस्वीकृत जान पड़ता है कि अदालतों को ऐसे प्रश्नों के निर्णय का कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिये। तीसरे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान के अन्तर्गत न्यायालयों से कभी इस बात का निर्णय करने की माँग नहीं की गयी कि विधानमण्डल अथवा कार्यकारिणी का कोई कार्य संविधान का उल्लंघन करता है अथवा नहीं। यद्यपि यह बात भी सही है कि संक्षिप्त और व्यापक शब्दों में लिखे हुए इस संविधान के अन्तर्गत शायद ऐसा कोई अवसर मिलना भी कठिन ही होता। किन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि फ्रांसीसी न्यायशास्त्री इस बात को अनुचित मानते थे कि विधानमण्डल के कार्य संविधान के विपरीत होने न होने का निर्णय कोई अदालत करे। उनके मत से यह न्यायाधीशों का काम नहीं है। वे साधारण कानून के प्रश्नों के बारे में निर्णय दे सकते हैं और सर्वोच्च प्रशासक-न्यायालय के माध्यम से प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों पर सफलतापूर्वक रोक लगा सकते हैं, पर उनसे संविधान की दुहाई देने की अपेक्षा नहीं की जाती। चौथे प्रजातन्त्र में भी यही सिद्धान्त मान्य है, यद्यपि उसके संविधान में कुछ ऐसे अधिकारों का आश्वासन दिया गया है और विधानसभाओं के कार्यों पर कुछ ऐसी शर्तें लगायी गयी हैं जो तीसरे प्रजातन्त्र के संविधान में मौजूद

न थीं। किसी अदालत को हस्तक्षेप की अनुमति न देने पर भी चौथे प्रजातन्त्र ने संविधान की ९१-९३ धाराओं के अनुसार एक संवैधानिक समिति की स्थापना की है जिसके सदस्य इस भाँति होंगे : प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति, लोकसभा और राजसभा के अध्यक्ष, लोकसभा के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन में उसके द्वारा पार्टियों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व करने वाले पर उनके बाहर से चुने गये सात सदस्य और इसी पद्धति से राजसभा में चुने गये तीन सदस्य। इस समिति की राय में यदि किसी कानून के लिए संविधान में संशोधन जरूरी हो तो वह तब तक नहीं चालू किया जा सकेगा जब तक संविधान में उपयुक्त संशोधन न हो जाय। यह बात ध्यान देने की है कि इस समिति के अधिकार क्षेत्र में भी संविधान की प्रस्तावना नहीं आती जिसमें अधिकारों की घोषणा है। तो भी यह न्यायालयों के व्याख्या के अधिकार तथा विधानमण्डलों के निरंकुश अधिकार के बीच दिलचस्प मध्यमार्ग है।

न्यायाधीशों के कर्त्तव्य के विषय में यह फ्रांसीसी सिद्धान्त यूरोप के बहुत से देशों में स्वीकृत है। हॉलैण्ड और बेल्जियम में, स्वीडन और डेनमार्क में, यद्यपि संविधान कुछ अधिकारों की गारंटी करते हैं और इस भाँति परोक्ष रूप से कुछ कानून बनाना वर्जित है, तो भी वहाँ अदालतें संविधान को लागू करने का प्रयत्न नहीं करतीं। उदाहरण के लिए नैदरलैंड्स के संविधान में ( धारा १२४ में ) यह घोषणा है कि दोनों सभाओं द्वारा समर्थित और राजा द्वारा स्वीकृत होने पर विधेयक कानून का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी वैधता के लिए कोई आदालत अन्य किसी प्रमाण की माँग न करेगी। केवल नॉर्वे में कानूनों पर अदालतों द्वारा विचार करने का कुछ प्रयत्न किया गया है और वहाँ ऐसे अवसर आये हैं जब कानूनों को इस आधार पर अवैध ठहराया गया है कि वे संविधान के किसी निर्देश के विपरीत पड़ते हैं। स्वीडन में अदालतों द्वारा निर्णय से कुछ-कुछ मिलती-जुलती एक अन्य व्यवस्था है। वहाँ लाग्राड नामक एक निकाय स्थापित है जिसमें तीन न्यायाधीश तो सर्वोच्च न्यायालय के होते हैं और एक न्यायाधीश सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय का। इस निकाय का कार्य ही यह है कि वह विधानमण्डल को महत्वपूर्ण कानूनों के बारे में सलाह दे। यदि लाग्राड की राय हो कि प्रस्तावित विधेयक संविधान के विपरीत होगा तो विधानमण्डल अनिवार्य रूप से उसको हाथ में लेने से इन्कार कर देगा।

इस बात से यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिये कि जिन देशों में कानूनों की अथवा कार्यकारिणी के कामों की अदालतों द्वारा जाँच का चलन नहीं हैं वे अपने संविधान की सर्वोपरिता के बारे में उदासीन हैं। कुछ तो संविधान ही ऐसे हैं जो विधानमण्डल अथवा कार्यकारिणी के अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते और इसलिए अदालतों द्वारा जाँच का सवाल ही नहीं उठता। किन्तु जिन देशों में प्रतिबन्ध लगाये भी गये हैं वहाँ प्रायः यह माना जाता है कि इस बात का भरोसा करने के सिवाय और कोई चारा नहीं है कि जिन संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे उन प्रतिबन्धों को मानकर चलें। कानून बनाने वालों और प्रशासकों की अपेक्षा न्यायाधीशों को अधिक विश्वसनीय क्यों माना जाय? अथवा सरकार की अन्य संस्थाओं की अपेक्षा न्यायाधीशों को संविधान के अर्थ के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए क्यों अधिक अधिकारी माना जाय? और क्या यह सर्वोच्च सत्ता की स्रोत—जनता—का काम नहीं है कि वह इन प्रश्नों को विधानमण्डल तथा कार्यकारिणी के ऊपर अपने प्रभाव द्वारा तै करे? उदाहरण के लिए स्विट्ज़रलैण्ड में जनता का तथा सरकार को चलाने वाले लोगों का स्पष्टतः यही मत है कि संविधान की रक्षा होनी चाहिये। तीस हजार स्विस नागरिकों द्वारा माँग होने पर जनमतग्रहण द्वारा राष्ट्रीय विधान-सभा के किसी भी कानून को जनता के समर्थन के लिए रखा जा सकता है। इस भाँति यदि यह अनुभव हो कि कोई कानून संविधान के विपरीत है तो उसे जनता के सामने रखा जा सकता है, और यदि जनता उसका समर्थन कर दे तो उसे सर्वोच्च प्राधिकार प्राप्त हो जाता है। और यदि वह सचमुच ही संविधान के विपरीत रहा हो तो जनता द्वारा उसकी स्वीकृति से वास्तव में संविधान में संशोधन का-सा परिणाम निकलता है।

यद्यपि स्विट्ज़रलैण्ड, हॉलैण्ड, बेल्जियम, नॉर्वे, स्वीडन और डेनमार्क जैसे देशों के विधानमण्डलों की न्यायपरायणता तथा जनता की सतर्कता को क्षुद्र समझना भूल है, तो भी इस बात की सम्भावना स्पष्ट है कि वहाँ संविधान की अवज्ञा पर किसी का ध्यान ही न जाये अथवा उसका कोई प्रतिकार न किया जा सके। विशेषकर स्विट्ज़रलैण्ड में, जहाँ संघात्मक अधिकार विभाजन से एकात्मक संविधानों में पाये जाने वाले प्रतिबन्धों की सूची में और भी वृद्धि हो गयी है, यह स्पष्ट है कि जनमतग्रहण द्वारा कार्य करने की व्यवस्था लग जाय तो तीर नहीं

तो तुक्का से अधिक नहीं है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अदालतों द्वारा कानूनों की जाँच के सिद्धान्त पर यूरोप में चर्चा तो बढ़ती रही है, पर उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त होने में अभी भी बहुत देर है।

अब इस बात पर विचार करने का अवसर आ गया है कि न्यायसम्बन्धी व्याख्या की व्यवस्था जिन देशों में स्वीकृत है वहाँ उसकी क्या स्थिति रही है। स्पष्ट ही हमारे विवेचन के लिए जिन संविधानों पर विचार करना आवश्यक है वे संयुक्त राज्य, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया के तथा इन संघों के अन्तर्गत राज्यों अथवा प्रान्तों के और आयरलैण्ड के संविधान ही हैं। यद्यपि अदालतों द्वारा जाँच की व्यवस्था लैटिन अमरीकी संविधानों में भी मौजूद है, किन्तु वहाँ की सरकारों के कार्य में, कुछेक अपवादों को छोड़कर, ऐसी बहुत कम सामग्री मिलती है जिसके आधार पर संवैधानिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया का कुछ वर्णन हो सके।

सबसे पहले तो इस कथन का अर्थ समझना ही उचित होगा कि न्यायसम्बन्धी व्याख्या अथवा निर्णय से संविधान में परिवर्त्तन हो सकता है। इस बात पर जोर देना जरूरी है कि अदालतें संविधान में संशोधन नहीं कर सकतीं। वे शब्दों में परिवर्त्तन नहीं कर सकतीं। शब्दों को तो उन्हें स्वीकार ही करना पड़ता है, और जहाँ तक उनके परिवर्त्तन का प्रश्न है वह उन शब्दों के अर्थ की व्याख्या द्वारा ही सम्भव है। अपने एकाधिक निर्णयों द्वारा अदालतें किसी शब्द अथवा वाक्यांश के भाव को विशद कर सकती हैं। वे अपने पिछले निर्णयों में सुधार कर सकती हैं, उसमें पूर्त्ति कर सकती हैं अथवा उसको सूक्ष्मतर बना सकती हैं; वे अपने पिछले निर्णय को वापस लेकर उसके विरुद्ध भी मत दे सकती हैं। पर संविधान के शब्दों की सीमा के बाहर जाना उनके लिए कभी सम्भव नहीं। यह सही है कि, जैसा पिछले एक अध्याय में कहा जा चुका है, कभी-कभी ये शब्द अस्पष्ट अथवा अनिश्चित होते हैं और इस बात का अवसर रहता है कि न्यायाधीश अपने मन से उनमें ऐसा अर्थ जोड़ दें जो संविधान के निर्माताओं के मस्तिष्क में आया ही न हो; यह भी सही है कि न्यायाधीश भी भूल करते हैं, बहुत बार तर्क की दृष्टि से असंगत हो जाते हैं अथवा अपनी धारणाएँ बदल लेते हैं; यह भी सही है कि सूक्ष्म बाल की खाल निकालने और कानूनी बारीकियों से कभी-कभी सहज व्यवहार अथवा सहज बुद्धि के साथ बड़ा अत्याचार होता जान पड़ता है; और, अन्त में

यह भी सही है कि न्यायाधीश कभी-कभी अपने अधिकारक्षेत्र का उल्लंघन कर बैठते हैं। इन सब बातों के लिये न्यायाधीशों की आलोचना की जा सकती है और स्वयं न्याय-सम्बन्धी व्याख्या की पद्धति की भी निन्दा की जा सकती है। पर मूल बात याद रखने की यह है कि न्यायाधीश का उचित कर्त्तव्य संविधान के अथवा संविधि के शब्दों की व्याख्या करना है, उनमें संशोधन करना नहीं; और किसी संविधान के अर्थ में जो भी परिवर्त्तन अदालतें न्यायतः करती हैं, वे इस व्याख्या के कार्य से ही उत्पन्न होते हैं, कानून बनाने के किसी गुप्त अथवा स्वाभाविक कार्य से नहीं।

न्यायसम्बन्धी व्याख्या को हम व्यवहार में कार्यान्वित होते देखें तो हमें उसके स्वरूप और महत्व का शायद भली भाँति पता चल सकता है। स्वभावतः ही इसके प्रमाण हमें केवल उन्हीं देशों से मिल सकते हैं जहाँ अदालतों द्वारा संविधान की सफलतापूर्वक जाँच निरन्तर होती रहती है, और इस बात का अनिवार्य रूप से यही अर्थ है कि मुख्यतः यह अनुभव संयुक्त राज्य तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यों से ही प्राप्त हो सकता है। साथ ही उनमें सब मिलाकर दुनिया की एक तिहाई आबादी आ जाती है, इसलिए भी उनको यों ही नहीं टाला जा सकता। शायद उनके अनुभव का सबसे अच्छा प्रतिपादन कुछ ऐसे विषयों के माध्यम से हो सकता है जो संविधानों के आधुनिक विकास की विशेषताएँ रही हैं।

सबसे पहले तो आधुनिक संविधानों में केन्द्रीकरण की वृद्धि में न्यायसम्बन्धी व्याख्या का क्या हाथ रहा है? इस बात पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है कि किस प्रकार आर्थिक तथा शिल्पविज्ञान-सम्बन्धी परिस्थितियों में परिवर्त्तन से अनिवार्य रूप में संविधान के शब्दों में परिवर्त्तन हुए बिना भी केन्द्रीय सरकार के अधिकारों में वृद्धि हुई है। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि इन परिस्थिति सम्बन्धी परिवर्त्तनों को प्रायः अदालतों के निर्णयों में मान्यता मिल जाती है क्योंकि अदालतों को इस बात का फैसला करना पड़ता है कि संविधान का कोई पुराना सूत्र नयी तथा अप्रत्याशित परिस्थितियों में लागू किया जा सकता है अथवा नहीं। उन्हें पुराने संविधान को नयी परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का काम करना पड़ता है।

इस प्रक्रिया को कार्य रूप में समझने का एक उपाय सबसे अच्छा है। वह यह कि अमरीकी संविधान में काँग्रेस को विभिन्न राज्यों के बीच वाणिज्य के व्यव-

स्थापन के लिए जो अधिकार दिया हुआ है उसकी व्याख्या संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय बदलती हुई परिस्थितियों में किस प्रकार करता रहा है इसका अध्ययन किया जाय। जिस समय अमरीकी संविधान में यह धारा शामिल की गयी तो मूलतः उसे राज्यों के आयात-निर्यात-कर को रोकने और स्वतन्त्र व्यापार में अन्य स्थानीय बाधाओं को दूर करने का साधन ही समझा गया था। पर अन्तर्राज्यिक वाणिज्य के सम्बन्ध में संविधान के शब्दों की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्याख्या करने के पहले अवसर से ही—१८२४ में **गिबन्स बनाम ऑग्डन** ( ९ व्हीटन १ ) के मामले में—उन शब्दों को निरन्तर अधिकाधिक व्यापक अर्थ मिलता रहा है। संविधान में लिखा है कि 'काँग्रेस को···विभिन्न राज्यों के बीच···वाणिज्य के व्यवस्थापन का···अधिकार होगा।' **गिबन्स बनाम ऑग्डन** वाले मामले में इस बात का प्रयत्न किया गया कि सर्वोच्च न्यायालय इन शब्दों की ऐसी व्याख्या स्वीकार कर ले जिसे कठोर कहा गया था। मुख्य न्यायाधीश मार्शल के माध्यम से अदालत ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय से यह कहने की माँग की गयी थी कि वाणिज्य 'वस्तुओं के खरीदने, बेचने, लाने-ले जाने अथवा परस्पर-परिवर्त्तन' तक ही सीमित है, और उसमें नौचालन शामिल नहीं है। अदालत ने (पृष्ठ १८९-९० पर) कहा : "वाणिज्य निस्सन्देह क्रय-विक्रय है, पर वह इससे कुछ अधिक भी है : वह संसर्ग ( intercourse ) भी है। वह राष्ट्रों के बीच और राष्ट्रों के विभिन्न भागों के बीच, उसकी तमाम शाखाओं में व्यावसायिक संसर्ग का नाम और उसका व्यवस्थापन इस संसर्ग के नियम निश्चित करने के द्वारा ही होता है।" इसके बाद फिर यह तै करना जरूरी था कि 'विभिन्न राज्यों के बीच' वाणिज्य से क्या अभिप्राय है। अदालत को इस बात में कोई सन्देह न था कि उसमें किसी राज्य के भीतर वाणिज्य के व्यवस्थापन का अधिकार अवश्य शामिल होना चाहिये। "राज्यों के बीच वाणिज्य प्रत्येक राज्य की सीमा-रेखा पर आकर नहीं रुक सकता, वह उसके भीतर भी जा सकता है।" किन्तु इसकी कुछ सीमाएँ अवश्य हैं। अदालत ने (पृष्ठ १९४-९५ पर) कहा : "अभिप्राय यह नहीं है कि इन शब्दों में वह वाणिज्य भी शामिल है जो पूर्णतया आन्तरिक है, जो राज्य के भीतर ही दो व्यक्तियों के बीच चलता है, अथवा एक ही राज्य के विभिन्न भागों के बीच चलता है और जो दूसरे राज्यों तक नहीं जाता अथवा जिसका उन पर कोई असर नहीं पड़ता।

ऐसा अधिकार असुविधाजनक होगा और निश्चय ही अनावश्यक है। 'बीच' शब्द बहुत ही व्यापक होते हुए भी उसको ऐसे वाणिज्य तक सीमित करना उचित जान पड़ता है जिसका एक से अधिक राज्यों से सम्बन्ध हो' ' 'और किसी राज्य का पूर्णतः आन्तरिक वाणिज्य स्वयं उस राज्य के लिए ही सुरक्षित माना जा सकता है।" और अन्त में 'व्यवस्थापन' का क्या अर्थ था? अदालत ने (पृष्ठ १९६ पर) कहा: "काँग्रेस को दिये गये अन्य अधिकारों की भाँति यह अधिकार भी अपने आप में सम्पूर्ण है, उसका अधिकतम सीमा तक उपयोग किया जा सकता है, और उसकी संविधान में निर्दिष्ट सीमाओं के अतिरिक्त कोई अन्य सीमा नहीं मानी जा सकती।"

बाद में अदालत को कई बार इस बात का निर्णय देना पड़ा कि अन्तर्राज्यिक वाणिज्य कहाँ समाप्त होता है और राज्य का आन्तरिक वाणिज्य कहाँ शुरू होता है। उद्योग, वाणिज्य तथा यातायात के साधनों से सम्बन्धित जिन क्रान्तियों ने संयुक्त राज्य को एक घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का रूप दे दिया, उनके फलस्वरूप इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन हो गया। अदालत ने एक के बाद एक सूत्र स्वीकार किया पर एक विशेषता उन सब में पायी जाती है कि उन सबसे काँग्रेस के अधिकार और भी विस्तृत ही होते गये। १९१४ में श्रेवेपोर्ट वाले मामले में [ **हाउस्टन, ई० एंड डब्ल्यू० टैक्सास रेलवे कम्पनी बनाम युनाइटिड स्टेट्स** ( २३४ सं० रा० ३४२ ) ] अदालत ने पृष्ठ ३५१-५२ पर कहा: "जहाँ भी राज्यों के बाहर तथा राज्यों के भीतर का व्यावसायिक लेन-देन इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध है कि एक के नियन्त्रण से दूसरे पर भी नियन्त्रण होना अवश्यम्भावी है, वहाँ राज्य नहीं काँग्रेस को अन्तिम तथा प्रधान नियम बनाने का अधिकार होगा।" १९२२ में **स्टैफर्ड बनाम वैलेस** ( २५८ सं० रा० ४९५ ) वाले मामले में पृष्ठ ५१८-१९ पर अदालत ने कहा कि 'देश के एक भाग से दूसरे भाग में वाणिज्य की धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं' और अदालत उसकी 'कुछेक आवश्यक घटनाओं और सुविधाओं के अ-अन्तर्राज्यिक स्वरूप में सूक्ष्म और टैक्नीकल ढंग की जाँच के द्वारा' काँग्रेस के उनके नियन्त्रण में बाधा डालने का प्रयत्न न करेगी क्योंकि 'इन घटनाओं और सुविधाओं पर अकेले विचार करना और उस गति से उन्हें अलग करके देखना जिसका वे आवश्यक

किन्तु अ-प्रधान अंग हैं' ठीक नहीं होगा।

१९३७ तक आते-आते, जब राष्ट्रीय **नैश्नल लेबर रिलेशन्स बोर्ड बनाम जोन्स एंड लाफ्लिन स्टील कारपोरेशन** (३०१ सं० रा० १) के मामले में अदालत का फैसला हुआ, वाणिज्य की 'धारा' और उसके 'बहते रहने' की धारणा पुरानी पड़ने लगी थी। 'अन्तर्राज्यिक वाणिज्य की बाधाओं और असुविधाओं से रक्षा करने का काँग्रेस का अधिकार केवल ऐसे क्रय-विक्रय तक सीमित नहीं है जिन्हें अन्तर्राज्यिक अथवा वैदेशिक वाणिज्य के 'बहते रहने' का आवश्यक अंग माना जा सके। ···ऐसी बहुत-सी गतिविधियाँ हो सकती हैं जो अलग से विचार करने पर राज्य के भीतर की जान पड़ें, किन्तु यदि अन्तर्राज्यिक वाणिज्य से उनका ऐसा घनिष्ठ और बुनियादी सम्बन्ध हो कि वाणिज्य की बाधाओं और असुविधाओं से रक्षा करने के लिए उन गतिविधियों का नियन्त्रण आवश्यक अथवा उचित हो, तो काँग्रेस को ऐसे नियन्त्रण के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता' (पृष्ठ ३६ और ३७)।

कुछ मामलों में, जिसका एक उदाहरण १९३५ का **स्कैक्टर पोल्ट्री कारपोरेशन** वाला मामला (२९५ सं० रा० ४९५) है, अदालत ने (पृष्ठ ५४६-४८ पर) राज्य के भीतर दो तरह के क्रय-विक्रय का उल्लेख किया; एक वे जो 'प्रत्यक्ष रूप से' अन्तर्राज्यिक वाणिज्य पर असर डालते हैं और दूसरे वे जो केवल 'अप्रत्यक्ष रूप से' प्रभाव डालते हैं। ऐसा लगता था कि अदालत केवल पहले प्रकार के सौदों को काँग्रेस के वाणिज्यसम्बन्धी अधिकार के अन्तर्गत मानती है। पर १९४१ और १९४२ के दो निर्णयों में ये सूक्ष्म अन्तर भी पीछे छूट गये। १९४१ में **युनाइटिड स्टेट्स बनाम डारबी** (३१२ सं० रा० १००) वाले मामले में अदालत ने (पृष्ठ ११८ पर) कहा : "काँग्रेस का अन्तर्राज्यिक वाणिज्यसम्बन्धी अधिकार केवल राज्यों के बीच के वाणिज्य के व्यवस्थापन तक सीमित नहीं है। वह राज्यों के भीतर की उन गतिविधियों पर भी लागू होता है जो अन्तर्राज्यिक वाणिज्य अथवा उसके ऊपर काँग्रेस के अधिकार के उपयोग पर भी प्रभाव डालती हैं। विशेष कर यदि वह प्रभाव ऐसा हो कि उन गतिविधियों के नियन्त्रण से अन्तर्राज्यिक वाणिज्य के व्यवस्थापन के लिए काँग्रेस को मिले हुए अधिकारों के उपयोग में सहायता मिले।" और अन्त में १९४२ में **विकर्ड बनाम फिलबर्न** वाले मामले

में ( ३१७ सं० रा० १११ ) अदालत ने ( पृष्ठ १२५ पर ) कहा : "यदि कोई कार्य स्थानीय भी हो और चाहे उसे वाणिज्य न भी माना जाता हो, तो भी यदि उसका अन्तर्राज्यिक वाणिज्य पर पर्याप्त आर्थिक प्रभाव पड़ता हो तो काँग्रेस उस पर नियन्त्रण कर सकती है, चाहे इस प्रभाव को पहले कभी 'प्रत्यक्ष' कहा गया हो अथवा 'अप्रत्यक्ष' ।"

इस विषय में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का अनुसरण करते-करते यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि उसने काँग्रेस के वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार को पिछले डेढ़ सौ वर्ष के आर्थिक, वाणिज्य-विषयक, औद्योगिक और यातायात सम्बन्धी क्रान्तियों की माँगों के अनुरूप ढालने की कोशिश की है। वास्तव में काँग्रेस जितना उपयोग करती है उससे कहीं व्यापक अधिकार उसे प्राप्त हैं। यह नहीं है कि अदालत ने वाणिज्य के क्षेत्र में काँग्रेस की स्थिति का सदा समर्थन ही किया है । १९३५ में **स्कैक्टर पोल्ट्री कारपोरेशन** वाले मामले में अदालत ने सर्वसम्मति से राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा प्रवर्त्तित 'नयी व्यवस्था' सम्बन्धी कानूनों के एक महत्वपूर्ण अंश को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया था कि उनसे ऐसे कार्यों का नियन्त्रण होता है जो वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार के अन्तर्गत नहीं आते। इस तर्क का' कि ये कार्य अविच्छिन्न रूप में अन्तर्राज्यिक वाणिज्य से सम्बद्ध है, दो न्यायाधीशों ने—न्यायाधीश कारडोजो और न्यायाधीश स्टोन ने—( २९५ सं० रा० ४९५, पृष्ठ ५५४ पर ) यह उत्तर दिया था : "तात्कालिकता अथवा प्रत्यक्षता को यहाँ खोजना लगभग हर जगह खोज लेने के बराबर है । यदि केन्द्रोन्मुख शक्तियों को इतना पृथक् किया जायगा कि उनकी विरोधी और प्रतिकारी शक्तियों का कोई सम्पर्क ही न रहे तो हमारी संघात्मक व्यवस्था का चलना कठिन है ।" अदालत निरन्तर इस बात पर जोर देती रहती है कि वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार की भी कुछ तो सीमाएँ हैं ही ; वह यह तो मानती है कि बहुत बार यह सीमा-रेखा खींचना बहुत कठिन होता है, पर साथ ही वह ऐसा करने के कर्त्तव्य को भी स्वीकार करती है। उसने १९३७ में **दि जोन्स एण्ड लाफ्लिन स्टील कारपोरेशन** के मामले में कहा था : "निस्सन्देह इस अधिकार के क्षेत्र को हमें अपनी दोहरी शासन-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में समझना चाहिये और उसे इतना नहीं विस्तृत करना चाहिये कि उसमें अन्तर्राज्यिक वाणिज्य के ऊपर पड़ने वाले अप्रत्यक्ष और दूरस्थ प्रभाव भी शामिल हो जायें जिसके फल-

स्वरूप हमारे जटिल समाज को देखते हुए राष्ट्रीय और स्थानीय के बीच के समस्त अन्तर ही एकदम मिटने लगें और एक पूर्णतः केन्द्रीकृत सरकार बन जाय" ( ३०१ सं० रा० १, पृष्ठ ३७ पर )।

किन्तु सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बीच-बीच में बाधाएँ डाले जाने के बावजूद काँग्रेस के पास आधुनिक आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करने के अधिकार की कमी नहीं है। वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार इतना व्यापक सिद्ध हुआ है कि संयुक्त राज्य में आज आर्थिक मामलों को लेकर काँग्रेस के अधिकारों को समायोजित करने के लिए संविधान का संशोधन तक आवश्यक नहीं हुआ है। यह बात सचमुच बड़ी अद्भुत है कि पचास-साठ लाख आबादीवाले एक कृषिप्रधान देश को डेढ़ सौ बरस से भी पहले दिये गये अधिकार आज उससे तीस गुना अधिक आबादीवाले महान् औद्योगिक देश की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाये जा सके हैं। नये समाज के अनुरूप संविधान को बना लेने का यह काम सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही सम्पन्न हुआ है।

किन्तु यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि सर्वोच्च न्यायालय यह कार्य इसीलिए कर सका कि संविधान के शब्दों को इस तरह ढालना सम्भव है। दूसरी ओर हम यदि कनाडा के संविधान पर नजर डालें तो हमें एक अन्तर दिखाई पड़ता है, और एक ऐसा अन्तर जो चकित कर देनेवाला है। कनाडा का संविधान कनाडा की संसद को 'व्यवसाय और वाणिज्य के व्यवस्थापन' से सम्बन्धित कानून बनाने का अधिकार देता है। यहाँ अधिकार बहुत व्यापक है और उसमें संयुक्त राज्य की भाँति 'विभिन्न राज्यों के बीच' का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। पर कनाडा में दूसरे प्रतिबन्ध निकल आये हैं। संविधान ने प्रान्त में 'सम्पत्ति और नागरिक अधिकारों' से सम्बन्धित कानून बनाने का एकान्त अधिकार प्रान्तों को दे रखा है। यह बात समझने के लिए विशेषज्ञ होना जरूरी नहीं है कि इन दोनों वाक्यांशों में परस्पर-विरोध होने की सम्भावना है, और सचमुच अदालतों को इस बात का निर्णय करने के लिए लाचार होना पड़ा है कि उनकी व्याख्या किस प्रकार होनी चाहिये। अदालत के फैसलों का परिणाम यही था कि 'व्यवसाय और वाणिज्य' वाक्यांश का ऐसा अर्थ निकालना चाहिये जो 'सम्पत्ति और नागरिक अधिकारों' के विपरीत न पड़े। इसका परिणाम यह हुआ है कि पहले वाक्यांश की व्याख्या संकुचित

और दूसरे की व्यापक हुई है। यहाँ यह आपत्ति अवश्य की जा सकती है कि अदालतें इससे भिन्न निर्णय भी दे सकती थीं; वे 'व्यवसाय और वाणिज्य' को भी प्रधानता दे सकती थीं। इस बात में कुछ सचाई अवश्य है, पर साथ ही यह निर्देश कि सम्पत्ति और नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में कानून बनाने का प्रान्तों को एकान्त अधिकार है, बाधा अवश्य उपस्थित करता है। कनाडा के संविधान को यदि अदालतें ढालना भी चाहतीं तो आसानी से वैसा करना सम्भव नहीं था।

जो बात कनाडा के संविधान में व्यवसाय और वाणिज्य के अधिकार के बारे में कही गयी है वही आम तौर पर कनाडा के संविधान के न्याय-सम्बन्धी व्याख्या की समूची कहानी के विषय में भी सत्य है। जहाँ एक ओर संयुक्त राज्य में केन्द्रीय विधानमण्डल न्याय-विषयक व्याख्या की पद्धति द्वारा उन तमाम अधिकारों को प्राप्त करने में सफल हुआ है जो राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक हैं, तो दूसरी ओर कनाडा में अदालतों ने केन्द्र के विरुद्ध प्रान्तों के अधिकारों को ही अधिक विस्तृत किया है। साथ ही इस बात पर भी जोर देना उचित है कि इस अन्तर के महत्व के सम्बन्ध में कोई राय जाहिर करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि कनाडा का संविधान कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण बातों में संयुक्त राज्य के संविधान से भिन्न है। तो भी कुछ-न-कुछ श्रेय अदालतों के दृष्टिकोण की भिन्नता को भी दिया जाना ही चाहिये जिन्होंने संयुक्त राज्य में अपने न्यायोचित विवेक का उपयोग संघ के पक्ष में किया है और कनाडा में प्रान्तों के पक्ष में। यहाँ शायद यह जोड़ देना भी उपयोगी होगा कि १९५० तक कनाडा के संविधान की व्याख्या का चरम अधिकार लन्दन में बैठी हुई राज्य-परिषद् की न्याय-समिति के हाथों में था जिसमें लगभग तमाम न्यायाधीश अँग्रेज थे और जिन्हें कनाडा की राजनीतिक और कानूनी परिस्थितियों का कोई निजी अनुभव न था। किन्तु मानवीय विवेक के इस तत्त्व को पूरा अवसर देने के बाद भी यह जोर देना जरूरी है कि कनाडा के संविधान में संसद के अधिकारों के विस्तार के लिए ऐसी कानूनी बाधाएँ मौजूद हैं जिन्हें दूर करने में व्याख्या का चरम अधिकार-प्राप्त स्वयं कनाडा का सर्वोच्च न्यायालय भी कठिनाई अनुभव करेगा।

संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार की व्याख्या के विवेचन में एक बात और भी विचारणीय है। अदालत ने अपने निर्णय आर्थिक

अखण्डता की पृष्ठभूमि में दिये हैं जिसका अदालत की राय पर प्रभाव पड़ना जरूरी है। वास्तव में अमरीकी संघ के बहुत से राज्यों के बीच पर्याप्त मात्रा में वाणिज्य होता है। विशेषकर पिछले पचास साल में उसकी तीव्रता और मात्रा दोनों में बहुत वृद्धि हुई है। अधिकाधिक क्रय-विक्रय अन्तर्राज्यिक वाणिज्य के क्षेत्र में आता गया है और काँग्रेस के अधिकारों की सीमा खींचना अधिकाधिक कठिन होता गया है। यह उचित ही है कि अदालत के सामने जितने भी मामले आये हैं उनके निर्णय में यह बात झलकती रही है। किन्तु ऑस्ट्रेलिया जैसे देश में, जहाँ के राष्ट्र-मण्डल की संसद को भी ऐसे ही अधिकार प्राप्त हैं, नियन्त्रण करने के लिए इतना अधिक अन्तर्राज्यिक वाणिज्य नहीं बढ़ा है। उच्च न्यायालय ने निश्चय ही इस शब्दावली को अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ दिया है, पर आर्थिक जीवन की वास्तविकता के कारण, विशेषकर अधिकांश आबादी के राज्यों की राजधानियों में ही बसे होने और राज्यों के भीतर ही बहुत सारा वाणिज्य चलाते रहने के कारण देश के आर्थिक मामलों का बहुत थोड़ा-सा अंश ही वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार के अन्तर्गत नियन्त्रण में बँधने योग्य है।

इस बात का यह अर्थ नहीं है कि ऑस्ट्रेलिया में अदालतों के फैसलों की प्रवृत्ति केन्द्रीय अधिकारों की वृद्धि के विरुद्ध रही है। वास्तव में अन्तर्राज्यिक वाणिज्य सम्बन्धी अधिकार के अतिरिक्त अन्य अधिकारों की व्याख्या द्वारा औद्योगिक व्यवस्था का बहुत व्यापक क्षेत्र राष्ट्रमण्डल के नियन्त्रण के अधीन आ गया है और सचमुच संयुक्त राज्य अथवा कनाडा की तुलना में ऑस्ट्रेलिया की समूची शासन-व्यवस्था कहीं अधिक केन्द्रित हो गयी है। यहाँ सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण निर्णय के बारे में एक शब्द कहना आवश्यक है। १९४२ में ऑस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने एक ऐसे कानून को वैध ठहराया जिसके फलस्वरूप राज्यों को अपने आयकर लगाने के अधिकारों को त्यागने तथा बदले में राष्ट्र-मण्डल की संसद से अनुदान स्वीकार करने के लिए लाचार होना पड़ा (साउथ ऑस्ट्रेलिया बनाम दि कॉमनवेल्थ, ६५ सी० एल० आर० ३७३)। इस निर्णय से एक ऐसी कार्रवाई पर स्वीकृति की मुहर लग गयी जिसके द्वारा यदि राष्ट्रमण्डल चाहता तो राज्यों की अधिकांश राजनीतिक स्वाधीनता को नष्ट कर सकता था।

सरकार के केन्द्रीकरण में अदालतों के निर्णय की सहायता का एक और क्षेत्र

से उदाहरण दिया जा सकता है। वह है युद्ध अथवा सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार के उपयोग का क्षेत्र। न्याय सम्बन्धी व्याख्या का सामान्य परिणाम तीनों संघों में—संयुक्त राज्य, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में—यही हुआ है कि केन्द्रीय संसद को युद्ध करने और सुरक्षा के साधन जुटाने के लिए पूरे-पूरे अधिकार मिलने में सुविधा मिली है। यह सही है कि बीच-बीच में किसी एक कानून को इस आधार पर अवैध ठहराया गया है कि वह सुरक्षा सम्बन्धी अधिकारों के अन्तर्गत नहीं आता, और यह भी सही है कि इन मामलों में अदालतों के निर्णयों में विसंगति खोजी जा सकती है। पर ऐसा शायद ही कोई उदाहरण मिले जिसमें कम-से-कम युद्ध के दौरान में तो किसी कार्य में अदालत ने कोई रुकावट डाली हो। शान्ति-काल में अदालत ऐसे कानूनों को अधिक नापसन्दगी से देखती है जो सुरक्षासम्बन्धी अधिकार की ओट में राज्यों के अधिकार को हड़पने का यत्न करते हों।

यह अध्ययन बड़ा दिलचस्प है कि किस प्रकार अदालतों के फैसलों से संविधान में परिवर्त्तन लाने के लिए नियमित संशोधन के काम में सहायता मिलती है। कभी-कभी अदालत का फैसला ऐसी परिस्थिति पैदा कर देता है जिससे संविधान में संशोधन करने का आन्दोलन खड़ा हो जाता है। अमरीकी संविधान का सोलहवाँ संशोधन इसी प्रकार हुआ। संविधान में निर्देश था कि आबादी के अनुपात को ध्यान में रखे बिना कोई प्रत्यक्ष कर नहीं लगाया जाय। आयकर इस व्यवस्था के अनुसार भली भाँति नहीं लगाया जा सकता था और इसलिए यह निर्णय करना काँग्रेस के लिए बड़ा जरूरी था कि आयकर प्रत्यक्ष है अथवा नहीं। १८९५ में सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला किया ( **पोलक बनाम फार्मर्स लोन एण्ड ट्रस्ट कं०**, १५७ सं० रा० ४२९ और १५८ सं० रा० ६०१ ) कि आयकर प्रत्यक्ष कर है और परिणाम-स्वरूप उसको लगाने के अधिकार का लगभग कोई मूल्य ही नहीं रहा। यह कठिनाई १९१३ में सोलहवाँ संशोधन स्वीकृत होने पर ही दूर हुई जिसने काँग्रेस के आयकर लगाने के अधिकार के ऊपर से ये प्रतिबन्ध हटा दिये।

कभी-कभी अदालत का फैसला संविधान में परिवर्त्तन के लिए संवैधानिक संशोधन के साथ जुड़ जाता है। इस भाँति ऑस्ट्रेलिया में देश के वित्तीय मामलों में राष्ट्रमण्डल की संसद को प्रधानता दो बातों के सम्मिलित प्रभाव से प्राप्त हुई है—एक संविधान का संशोधन जो १९२८ में स्वीकृत हुआ और जिसने वित्तीय मामलों

में राष्ट्रमण्डल की संसद के अधिकार व्यापक कर दिये, और दूसरा १९४२ का अदालतों का आयकर सम्बन्धी उपर्युक्त फैसला। संयुक्त राज्य में दिलचस्प बात यह है कि केन्द्र के अधिकारों में वास्तविक वृद्धि नियमित संशोधन से कम होती है और अदालत के फैसले का परिणाम कहीं अधिक होता है। ऑस्ट्रेलिया में संशोधन बहुत कम हुए हैं, पर वह इतने पर्याप्त महत्व के रहे हैं कि केन्द्रीकरण की वृद्धि में अदालतों की व्याख्या के बराबर ही दर्जा उन्हें मिला हुआ है।

आधुनिक संविधानों के विकास में एक प्रमुख प्रवृत्ति, कार्यकारिणी के अधिकारों में अपेक्षाकृत वृद्धि की है। केन्द्रीकरण के बाद इसी प्रवृत्ति का महत्व सबसे अधिक है। इस प्रवृत्ति को न्यायालयों की व्याख्या से कितनी सहायता अथवा बाधाएँ मिली हैं? संयुक्त राज्य के संविधान में यह घोषित है कि 'कानून बनाने के जितने भी अधिकार यहाँ दिये गये हैं वे सब संयुक्त राज्य की काँग्रेस को प्राप्त होंगे।' पर अधिकांश आधुनिक राज्यों में कार्यकारिणी को यह अधिकार देना आवश्यक माना गया है कि—खास तौर पर युद्धकालीन अथवा अन्य किसी संकट के समय—वह ऐसे नियम बना सके जिनमें कानून की अधिकांश अथवा तमाम विशेषताएँ मौजूद जान पड़ें। संसद कानून बनाने का अधिकार किसी मन्त्री को, किसी विभाग अथवा किसी अफसर को सौंप देती है। क्या संयुक्त राज्य में यह सम्भव है? क्या संविधान, कम-से-कम परोक्ष रूप से, काँग्रेस को अपने कानून बनाने के अधिकार किसी दूसरे निकाय को सौंपने का निषेध नहीं करता? यह प्रश्न अदालतों में बहुत बार उठाया जा चुका है और राष्ट्रपति अथवा किसी प्रशासकीय विभाग के नियम बनाने के अधिकार की वैधता पर सन्देह प्रगट किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय का इस विषय में उत्तर यही रहा है कि काँग्रेस अपना विधि-निर्माण का अधिकार तो किसी दूसरे को नहीं सौंप सकती, पर वह अन्य संस्थाओं अथवा व्यक्तियों को नियम बनाने के ऐसे बहुत ही व्यापक और विविध अधिकार दे सकती है जिनका स्वरूप विधि-निर्माण जैसा न हो। इसका अर्थ है कि अदालत को यह भी बताना पड़ा कि 'विधि-निर्माण' का अर्थ क्या है, और कुछ मामलों में यह भी निर्धारित करना पड़ा कि सौंपा हुआ अधिकार विधि-निर्माण के अधिकार के बराबर है या नहीं। मोटे तौर पर सर्वोच्च न्यायालय का आदेश यही है कि काँग्रेस को किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति को नियम बनाने का अधिकार सौंपते

समय उसके अधिनियम में उन सिद्धान्तों अथवा मानदण्डों का निर्देश अवश्य कर देना चाहिये जिनका अनुसरण अथवा प्रयोग किया जाना अभिप्रेत है।

सर्वोच्च न्यायालय ने जो व्याख्या स्वीकार की है वह मुख्य न्यायाधीश स्टोन के एक निर्णय में अच्छी तरह प्रगट हुई है। यह निर्णय उन्होंने **याकूस बनाम युनाइटिड स्टेट्स** ( ३२१ सं० रा० ४१४ ) वाले मामले में १९४४ में दिया था। उन्होंने ( पृष्ठ ४२४-२५, ४२६ पर ) कहा था :

"सरकार के सतत् सक्रिय घोषणापत्र के रूप में संविधान किसी असम्भव अथवा अव्यवहार्य वस्तु की माँग नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि काँग्रेस अपने वैधानिक कार्य जिन तमाम तथ्यों पर आधारित करना चाहती है उनका पता स्वयं लगाये अथवा वह ऐसे सविस्तार निश्चय करे जिन्हें वह विशिष्ट घटनाओं और परिस्थितियों में वैधानिक नीति के प्रयोग के लिए प्राथमिक महत्व का समझती है। इन घटनाओं और परिस्थितियों की ठीक-ठीक जाँच करना स्वयं काँग्रेस के लिए तो असम्भव है। वैधानिक कर्त्तव्य के आवश्यक अंग हैं वैधानिक नीति का निर्धारण और व्यवहार के सुनिश्चित और बाध्यतापूर्ण नियम के रूप में उसका सन्निबन्धन तथा उसकी प्रख्यापना।...इन आवश्यक अंगों की रक्षा उसी समय हो जाती है जब काँग्रेस बुनियादी तथ्यगत परिस्थितियों का निर्देश कर देती है। इन परिस्थितियों का अस्तित्व अथवा घटित होना किसी निर्दिष्ट प्रशासकीय साधन द्वारा एकत्रित तथ्यों से प्रमाणित होता है और इन्हीं के आधार पर काँग्रेस यह आदेश देती है कि उसकी वैधानिक आज्ञाओं का पालन होना आवश्यक है। यह कोई आपत्ति नहीं मानी जा सकती कि तथ्यों के निर्धारित करने में और वैधानिक मानदण्डों तथा नीतिसम्बन्धी घोषणाओं के अनुरूप उनसे निष्कर्ष निकालने में विवेक के उपयोग की आवश्यकता होती है तथा निर्धारित वैधानिक ढाँचे के भीतर सहायक प्रशासकीय नीति के सन्निबन्धन की।...यदि हम यह कह सकते कि प्रशासक की सहायता के लिए मानदण्ड मौजूद नहीं हैं और इस कारण न्यायतः यह जानना असम्भव होगा कि काँग्रेस की इच्छा का पालन हुआ है अथवा नहीं, तो केवल उसी हालत में अपने घोषित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके साधनों के चुनाव को अस्वीकार कर देना हमारे लिये न्यायसंगत होता...।"

इन कारणों से काँग्रेस के किसी अधिनियम को सर्वोच्च न्यायालय ने बहुत

ही कम अवैध ठहराया है। १९३५ के बाद से तो ऐसा कोई अवसर नहीं आया। १९३५ में अवश्य दो मामलों में (पनामा रिफाइनिंग कम्पनी बनाम रियान, २९३ सं० रा० ३८८ और स्कैक्टर पोल्ट्री कारपोरेशन बनाम युनाइटिड स्टेट्स २९५ सं० रा० ४९५) राष्ट्रीय औद्योगिक सुधार अधिनियम के कुछ अंश, जिसके ऊपर राष्ट्रपति रूजवेल्ट की नयी व्यवस्था, आधारित थी, इस बुनियाद पर अवैध ठहराये गये थे कि उनमें वैधानिक अधिकार अन्य संस्थाओं को सौंपा गया है। उन्होंने एक नियम बनाने का अधिकार किसी दूसरे को सौंप दिया था। न्यायाधीश कारडोज़ो ने दूसरे मामले में (पहले मामले में उन्होंने निर्णय के विरुद्ध मत प्रगट किया था) कहा था कि वह अधिकार 'असीमित और अनिश्चित है' और उसे 'ऐसे कगारों में बाँधकर नहीं रखा गया है कि वह उफ़न कर न बहे' (पृष्ठ ५५१)। परन्तु १९३५ के बाद से इस बुनियाद पर कोई अधिनियम अवैध नहीं ठहराया गया। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है क्योंकि १९४१-४५ के बीच संयुक्त राज्य युद्ध में लगा हुआ था और काँग्रेस के अधिनियमों के अन्तर्गत बहुत से नियम बनाने के अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति तथा अन्य प्रशासकीय विभागों द्वारा होता था। किन्तु जब भी कोई ऐसा मामला सामने आया तो सर्वोच्च न्यायालय ने सदा इसका समर्थन ही किया।

यह स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य में सर्वोच्च न्यायालय के इस रवैये ने यह सम्भव बना दिया है कि नियम बनाने के अधिकार के प्रयोग के बारे में नम्यता (flexilility) बरती जा सके, जो वैधानिक अधिकार के स्वरूप तथा संविधान के शब्दों को कठोरतापूर्वक लेने पर सम्भव नहीं होता। अदालत ने जान-बूझकर यह दृष्टिकोण स्वीकार किया कि संविधान के इन अंशों को नम्यतापूर्वक ग्रहण किया जाय। और न्यायाधीश स्टोन के शब्दों में—उसने १९४१ में स्वीकार किया कि 'दिनोंदिन जटिलतर होनेवाले समाज में यदि काँग्रेस की निश्चित वैधानिक नीति के समर्थन के लिए बुनियादी निष्कर्षों से सम्बन्धित तमाम तथ्य खोजने पड़े तो स्पष्ट ही वह अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकती।...' (ऑप काटन मिल्स बनाम ऐडमिनिस्ट्रेटर, ३१२ सं० रा० १२६, पृष्ठ १४५)।

यदि संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय संयुक्त राज्य के संविधान के निर्देश के बावजूद कार्यकारिणी को नियम बनाने का व्यापक अधिकार दे सकता है तो

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ऑस्ट्रेलिया और कनाडा में अदालतों ने यह बात मानने से इन्कार ही कर दिया है कि संसद वैधानिक अधिकार किसी दूसरे को नहीं सौंप सकती। संसदीय कार्यकारिणीवाले इन दो संघों में अधिकारों की पृथकता की परम्परा का प्रभाव या तो है ही नहीं, या नहीं के बराबर है। यही बात दक्षिणी अफ्रीका और न्यूज़ीलैण्ड जैसे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों के बारे में भी सच है। यद्यपि इन तमाम देशों के संविधानों में वैधानिक अधिकार राजा अथवा उसके प्रतिनिधि और संसद को सौंपे गये हैं, और यद्यपि अदालतों के सामने बीच-बीच में यह तर्क उपस्थित करने का प्रयत्न होता रहा है कि यह वैधानिक अधिकार अन्य किसी को सौंपा नहीं जा सकता, तो भी अदालतों ने यह स्थिति मानने से इन्कार ही किया है। ( देखिये ऑस्ट्रेलियन उच्च न्यायालय के समक्ष १९३१ में एक मामले में इवाट जे०, **विक्टोरियन स्टीवीडोरिंग कं० बनाम डिगनन**, ४६ सी० एल० आर० ७३, पृष्ठ ११४ )। बीच-बीच में कोई-कोई तर्कवादी न्यायाधीश यह मान लेता है कि संविधान के निर्देश अधिकार सौंपने के विरुद्ध तर्क का समर्थन कर सकते हैं। न्यायाधीश डिक्सन ने उपर्युक्त मामले के फैसले में यही दृष्टिकोण रखा था। उन्होंने ( पृष्ठ १०१-२ पर ) कहा था : "यह बात स्वीकार की जा सकती है कि जिस ढंग से संविधान में अधिकारों का पृथक्करण किया गया है उससे तर्क की अथवा सिद्धान्त की दृष्टि से अवश्य यह परिणाम निकलता है कि राष्ट्रमण्डल के वैधानिक अधिकारों की एकमात्र क्षमता संसद को ही है। संसद द्वारा कम महत्व के कानून बनाने का अधिकार दूसरों को सौंपने की क्षमता का अस्तित्व इस धारणा के कारण हो सकता है कि कुछ ऐसा भी वैधानिक अधिकार होता है जो कानूनी विश्लेषण पर इतना अधिक निर्भर नहीं है, बल्कि इतिहास पर और ब्रिटिश कानूनों तथा अँग्रेजी कानून के सिद्धान्तों पर अधिक निर्भर है।" यह समूचा निर्णय संयुक्त राज्य के संविधान तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत संविधानों के बीच अन्तर को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रगट करता है। किन्तु साधारणतः न्यायाधीश इस बात का विस्तार से विवेचन करना आवश्यक नहीं समझते। वे वही दृष्टिकोण अपनाते हैं जो ऑस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश ने १९०९ में अपनाया था। उन्होंने कहा था कि 'अब इस बात का अवसर नहीं रहा कि इस प्रकार के अधिकार सौंपने को, यदि इसे अधि-

कार सौंपना ही मानें, आपत्तिजनक समझा जाय' ( **ग्रिफिथ सी० जे० बैक्सटर बनाम आह वे** वाले मामले में, ८ सी० एल० आर० ६२६, पृष्ठ ६३२-३३ ) ।

इस बात पर, चाहे संक्षेप में ही, विचार करना उचित है कि न्याय-सम्बन्धी व्याख्या से किस प्रकार संविधान में व्यक्ति के अथवा जातियों के अथवा संस्थाओं के अधिकारों को सुरक्षण प्रदान करनेवाली धाराओं का विकास होता है। यह बड़ा भारी विषय है और यहाँ इसके केवल एक-दो पहलुओं पर प्रकाश डालना ही सम्भव हो सकता है । १९३७ के संविधान के अन्तर्गत आयरलैंड का अनुभव दिलचस्प है क्योंकि वह इस बात को भली भाँति प्रगट करता है कि अदालतों को किस हद तक व्यक्तिगत अधिकारों की व्याख्या अथवा रक्षा का अवसर मिलता है। आयरलैंड के सर्वोच्च न्यायालय के सामने १९४० से १९५० तक जितने मामले आये उनमें इसी बात पर जोर देने का प्रयत्न किया गया कि संविधान ने कुछ अधिकारों की गारंटी दे रखी है और विधानमण्डल अथवा कार्यकारिणी द्वारा उनका उल्लंघन अवैधानिक है ।

१९४० से १९४२ के बीच में आयरलैंड के सर्वोच्च न्यायालय के सामने चार मामले आये : **ऑफेंसिज़ अगेन्स्ट दि स्टेट ( एमेंडमेंट )** बिल, १९४०, आई० आर० ४७०; **मैक्ग्राथ एण्ड हार्ट** के मामले में, [ १९४१ ] आई० आर० ६८; **टामस मैक्कर्टेन** के मामले में, आई० आर० ८३; **स्टेट ( वाल्श एण्ड अदर्स ) बनाम लेनन**, [ १९४२ ] आई० आर० ११२ )। इनमें से प्रत्येक मामले में अदालत से इस आदेश की माँग की गयी थी कि विधान-मण्डल अथवा कार्यकारिणी ने अपने कार्यों द्वारा नागरिकों के अधिकारों पर आघात किया है, क्योंकि उसने या तो स्वयं, अथवा किसी दूसरे को अधिकार देकर, लोगों को बिना मुकदमे नजरबन्द किया था अथवा जूरी के बिना अथवा सैनिक न्यायालय के सामने मुकदमा चलाया था या निवासस्थान में जबरदस्ती प्रवेश किया था अथवा कागजपत्रों पर दखल कर लिया था। प्रत्येक मामले में अदालत को यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा था कि संविधान की शब्दावली के अनुसार ये कार्य पूरी तरह न्यायोचित ठहरते हैं । निस्सन्देह संविधान में अधिकारों की घोषणा की गयी है, पर साथ ही संविधान के अन्य अंशों द्वारा उनको सीमित भी कर दिया गया है । संविधान की शब्दावली इतनी स्पष्ट और व्यापक थी कि अदालत कोई

और निर्णय दे ही नहीं सकती थी।

इनके विपरीत दो ऐसे भी मामले आये जिनमें संविधान के कुछ सुनिश्चित निर्देशों पर विचार हुआ और जिनमें अदालत को राय जाहिर करने का अधिकार प्राप्त था। १९४३ में अदालत से **स्कूल एटेंडेंस** बिल १९४२ पर विचार करने की माँग की गयी। यह अधिनियम शिक्षामन्त्री को स्कूल न जानेवाले बच्चों के विषय में शिक्षा के कुछ मानदण्ड निर्धारित करने और उनको अनिवार्य बनाने का अधिकार देता था। अदालत ने फैसला किया कि जिस हद तक यह अधिनियम मन्त्री को न्यूनतम से अधिक शिक्षा का स्तर अनिवार्य बनाने तथा शिक्षा प्राप्त करने के ढंग का प्रमाणपत्र देने का अधिकार देता है उस हद तक यह अवैध है क्योंकि वह संविधान की धारा ४२ (३) के विरुद्ध है। उस धारा में कहा गया है : "किन्तु राज्य सार्वजनिक हित के संरक्षक की हैसियत से वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस बात की माँग कर सकता है कि बच्चों को एक न्यूनतम नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक शिक्षा अवश्य दी जाय।" अदालत की राय में यह निर्देश अक्षरशः माना जाना चाहिये। इस बात की माँग तो राज्य कर सकता है कि बच्चों को न्यूनतम शिक्षा अवश्य दी जाय; किन्तु जब तक बच्चों के माता-पिता इस न्यूनतम शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं तब तक संविधान के अनुसार राज्य को इस बात में दखल देने का अधिकार नहीं है कि वह शिक्षा दी किस प्रकार से जाय ( **स्कूल एटेंडेंस** बिल १९४२ के सम्बन्ध में, [ १९४३ ] आई० आर० ३३४ )।

१९४७ में आयरलैंड के सर्वोच्च न्यायालय से संविधान की धारा ४० (६) के निर्देश के अर्थपर विचार करने की माँग की गयी। इस धारा में नागरिकों को संगठन तथा संघ बनाने का अधिकार दिया गया है। पर इस अधिकार की घोषणा के साथ यह शर्त्त लगी हुई है : "किन्तु सार्वजनिक हित को ध्यान में रख कर उपर्युक्त अधिकार के नियन्त्रण और व्यवस्थापन के लिए कानून बनाये जा सकते हैं।" यह एक प्रकार की 'बचाव की धारा' जैसी जान पड़ती है जो आयरलैण्ड के तथा अन्य कई संविधानों में प्रायः पायी जाती है। आयरलैण्ड की संसद ने एक अधिनियम स्वीकृत किया जिससे नागरिकों का संघ बनाने का अधिकार सीमित हो गया और सर्वोच्च न्यायालय को इस बात का फैसला करना पड़ा कि अधिनियम वैध है अथवा नहीं।

(**नैशनल यूनियन ऑफ रेलवे मेन बनाम आयरिश ट्रांसपोर्ट एण्ड जनरल वर्कर्स यूनियन** [१९४७] आई० आर० ७७)। एक ओर तो यह कहा जा सकता था कि यह अधिनियम संघ बनाने के संरक्षित अधिकार के विरुद्ध है; दूसरी ओर सार्वजनिक हित में इस अधिकार को नियन्त्रित और व्यवस्थापित करने वाले कानून के रूप में वह न्यायोचित है। सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए—जहाँ से मामला अपील के लिए आया था—अधिनियम को इस बुनियाद पर अवैध ठहराया कि उससे संघ बनाने के अधिकार का नियन्त्रण होने की बजाय उस अधिकार का एकदम उन्मूलन ही हो जाता है। यह ऐसा मामला था जिसमें मत-भेद की गुंजाइश थी जो उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के दृष्टिकोणों के अन्तर में प्रगट हुआ।

संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय का बहुत-सा इतिहास संविधान के व्यक्तिगत अधिकारों की व्याख्या अथवा उनके व्यवहार में लाये जाने से सम्बन्धित है। हम तीसरे अध्याय में देख ही चुके हैं कि यह काम कितना अधिक कठिन है। यहाँ हमारे उद्देश्य के लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि किस प्रकार न्यायालयों की व्याख्या से संविधान की कुछेक शब्दावलियों को सुनिश्चित और अधिक विस्तृत महत्व प्राप्त हो सका है। इसका शायद सबसे अच्छा उदाहरण संविधान के पाँचवें और चौदहवें संशोधनों के निर्देशों की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्याख्या में मिलता है जिसमें कहा गया है कि किसी व्यक्ति को 'समुचित कानूनी कार्रवाई के बिना जीवन, स्वाधीनता अथवा सम्पत्ति से वञ्चित नहीं किया जायगा।' सरसरी नजर से देखने पर यह लगेगा कि 'समुचित कानूनी कार्रवाई' का अर्थ 'कानून के अनुकूल' अथवा 'कानून के निर्देशानुसार' जैसे वाक्यांशों के अर्थ से—ऐसी शब्दावली जो अधिकांश आधुनिक संविधानों में पायी जाती है पर जिससे सुशासन का कोई पक्का भरोसा नहीं होता—भिन्न नहीं है। निस्सन्देह संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय को इस बात की छूट थी कि वह यही दृष्टिकोण अपनाये और कॉंग्रेस अथवा राज्यों के विधानमण्डल द्वारा यथाविधि स्वीकृत किसी भी कानून के निर्देश से, यदि वह संविधान के किसी प्रतिबन्ध के विरुद्ध न पड़ता हो तो, किसी भी नागरिक को जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति से वंचित करने के लिए किये गये किसी भी कार्य को न्यायोचित माने। पर वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकार

एक किनारे खड़े होना स्वीकार नहीं किया। उसने 'समुचित कानूनी कार्रवाई' शब्दावली को कुछ अधिकारों की स्वीकृति की गारंटी के रूप में लिया, और विशेष परिस्थितियों में उसने यह भी बताया कि ये अधिकार कौन से हैं और वे स्वीकृत किये गये हैं अथवा अस्वीकृत।

इस भाँति अदालत ने यह माना है कि समुचित कानूनी कार्रवाई में, कम-से-कम प्राणदण्ड के मामले में, यह अधिकार निहित है कि अभियुक्त अपनी पैरवी के लिए वकील नियुक्त कर सकता है और इस अधिकार के बिना मुकदमा अवैध हो जाता है ( यथा **पावेल बनाम अलाबामा**, २८७ सं० रा० ४५ [ १९३२ ] ); कि अभियुक्त पर दबाव डालकर अपराधों की स्वीकृति प्राप्त करना समुचित कानूनी कार्रवाई के निषेध के बराबर है ( यथा **चेम्बर्स बनाम फ्लोरिडा**, ३०९ सं० रा० २२७ [ १९४० ], **ऐशक्राफ्ट बनाम टेनिसी**, ३२२ सं० रा० १४३ [ १९४४ ] ), और कि स्पष्टतः सामूहिक मारपीट से घबराये हुए जूरी द्वारा दिया गया दण्ड समुचित कानूनी कार्रवाई के विरुद्ध है और स्वीकृत नहीं हो सकता ( यथा **मूर बनाम डैम्पसी**, २६१ सं० रा० ८६ [ १९२३ ] )। मोटे तौर पर कहा जाय तो सर्वोच्च न्यायालय ने समुचित कार्रवाईवाली धारा से यह अर्थ लिया है कि सरकार का कार्य 'स्वाधीनता और न्याय के उन बुनियादी सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये जो हमारी तमाम नागरिक और राजनीतिक संस्थाओं के मूल में हैं और जिन्हें प्रायः 'देश का विधान' कह कर पुकारा जाता है" ( **हैबर्ट बनाम लुइसियाना**, २७२, सं० रा० ३१२, पृष्ठ ३१६, [ १९२६ ] )। "किसी अपराधी की सुनवाई में समुचित कार्रवाई का निषेध इस बात में है कि न्याय की मूल धारणा के अनुकूल आवश्यक बुनियादी पक्षपातहीनता न बरती जा सके।" ( **लिसेनबा बनाम कैलिफोर्निया**, ३१४ सं० रा० २१९, पृष्ठ २३६ [ १९४१ ] )।

सर्वोच्च न्यायालय के कार्य के ऊपर विचार करने और उसके इतिहास की समीक्षा करने के बाद अलेक्सी द तोकेविले के उन शब्दों का समर्थन कठिन नहीं रह जाता जो उसने १८३५ में अपनी पुस्तक **डिमॉक्रेसी इन अमेरिका** में लिखे थे : "संघ के न्यायाधीशों के लिए न केवल यह जरूरी है कि वे अच्छे नागरिक हों तथा उन्हें ऐसी जानकारी और चारित्रिक दृढ़ता प्राप्त हो जो प्रत्येक न्यायाधीश के लिए अनिवार्य है, बल्कि उन्हें राजदर्शी भी होना चाहिये—ऐसे राजनीतिज्ञ जो समय

के तकाजे को समझ सकें, जो बाधाओं का सामना करने में डरें नहीं, और जो संघ की सर्वोपरिता तथा विधान की आज्ञाकारिता को तोड़नेवाले दम्भी लोगों की उपेक्षा करने में न हिचकिचायें।" उसने आगे कहा था : "यदि कभी भी सर्वोच्च न्यायालय में अदूरदर्शी व्यक्ति और अयोग्य नागरिकों ने दखल जमा लिया तो संघ में या तो अराजकता मच जायगी या गृहयुद्ध।" जो बात उसने संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के लिए कही है वह उन तमाम देशों के लिए भी उतनी ही सही है जिनमें न्यायालयों को संविधान की आलोचना का अधिकार प्राप्त है।

संविधानों के ऊपर न्याय-सम्बन्धी निर्णयों के प्रभाव का अध्ययन करते समय यह पूछना स्वाभाविक है : क्या यह भार न्यायालयों को सौंपना उचित है ? यह बात समझना तो सम्भव है कि अदालतों को क्यों इस विषय में निर्णय करना पड़ता है। विवाद उठने पर यह बताना उनके कर्त्तव्य का ही एक अंग है कि सही कानून क्या है। पर यह कार्य उन्हें राजनीतिक विवाद के क्षेत्र में घसीट लाता है और इसका यह भी अर्थ है कि उनकी नियुक्ति के लिए आलोचना भी होती है और सिफारिशें भी। साथ ही उन्हें नियुक्त करनेवाले यह सोचने लगते हैं कि संविधान की व्याख्या के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या होगा। क्या इस बात से न्याय-व्यवस्था पर लांछन नहीं लगता ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मत में कुछ सार अवश्य है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि संयुक्त राज्य, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में सर्वोच्च न्यायालयों को सम्मान की दृष्टि से और प्रायः उनके कर्त्तव्य की कठिनता को ध्यान में रखते हुए सहानुभूति के साथ देखा जाता है।

तो फिर क्या उपाय है ? एक मत का कहना है कि अदालतों को विधानमण्डल के कानूनों को वैध मान कर ही चलना चाहिये और जो उन कानूनों को ठीक नहीं समझते उन्हें चाहिये कि एक होकर उनको जनमतग्रहण के लिए रखें। जहाँ तक संघ के कानूनों का प्रश्न है स्विट्ज़रलैंड का दृष्टिकोण यही है। वहाँ इस उपाय से सफलता भी पर्याप्त मिली है। पर क्या इसका उपयोग समूचे अमरीकी संघ के लिए भी हो सकता है ? और परिणामतः क्या यह भी संविधान में संशोधन करने की ही एक पद्धति नहीं है ? कभी-कभी यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि विधान-मण्डल के नियन्त्रण के लिए जनमत पर निर्भर रहना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है और यदि विधानमण्डलों के सदस्य अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन करें तो उसके

दण्ड को चुनाव के समय मतदाताओं के ऊपर ही छोड़ देना चाहिये। पर इस धारणा में उन अल्पसंख्यकों के लिए किसी सान्त्वना की गुंजाइश नहीं है जो अपने अधिकारों की रक्षा संविधान के द्वारा ही करना चाहते हैं। एक प्रस्ताव यह है कि इस विषय में निर्णय साधारण न्यायालयों द्वारा नहीं बल्कि विशेष रूप से स्थापित समिति द्वारा होना चाहिये। चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र की वैधानिक समिति इसी का एक उदाहरण है। इस सुझाव में लाभ यह है जिन अदालतों में साधारण कानून के मसलों पर फैसला किया जाता है उन्हें राजनीतिक विवाद में नहीं पड़ना होता। पर इससे यह कठिनाई तनिक भी हल नहीं होती कि इन विशेष न्यायालयों को भी साधारण कानूनों में दखल तो देना ही पड़ेगा क्योंकि उन्हें बहुत बार इस बात का निर्णय करना पड़ेगा कि साधारण कानून संविधान के विरुद्ध पड़ता है अथवा नहीं।

यह निश्चित जान पड़ता है कि अगर संविधान के निर्देशों का नियमित रूप से पालन होना जरूरी माना जाय तो अदालतों की शरण में जाना तथा उसके फल-स्वरूप अदालतों के फैसले आम तौर पर अनिवार्य ही हैं। स्विट्ज़रलैंड के निवासियों के पास इसके अतिरिक्त एक और भी उपाय मौजूद जान पड़ता है, पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वह उपाय भी व्यवहार में कठिन है और इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में उन्हें जो अनुभव और दक्षता प्राप्त है वह आसानी से दूसरी जगह शायद उपयोगी न हो सके। साथ ही इस बात पर भी जोर देना जरूरी है कि स्विट्ज़रलैंड में भी कैन्टनों (प्रान्तों) के अधिकारियों को दण्डविधान के अधिकार प्राप्त हैं और उनके तमाम कार्यों पर अदालतों का नियन्त्रण रहता है। तो भी इतना स्पष्ट है कि अदालतों को यह कार्य करना है तो ऐसे संविधान की व्याख्या करना उनके लिए बहुत कठिन होगा जिसकी भाषा अस्पष्ट और भावावेशपूर्ण हो। न्यायालयों द्वारा संविधान की व्याख्या की सफलता जितनी न्यायाधीशों की क्षमता पर निर्भर होती है उतनी ही भली भाँति तैयार किये हुए संविधान पर भी निर्भर है।

---

# ८ : संविधान कैसे बदलते हैं : चलन और परिपाटी

संवैधानिक परिवर्त्तन की जिन प्रक्रियाओं पर पिछले दो अध्यायों में विचार किया गया उनमें एक बात समान रूप से पायी जाती है कि उनके द्वारा संविधान के कानून में जो परिवर्त्तन होते हैं उन्हें न्यायालय मानते हैं और उनका उपयोग करते हैं। वे कानून के वैधानिक परिवर्त्तन हैं। इस अध्याय में हम परिवर्त्तन की ऐसी पद्धति पर विचार करेंगे जो कभी-कभी उसे व्यवहार में निर्जीव कागज का टुकड़ा बनाकर, और कभी-कभी व्यवहार में उसकी व्याख्या तथा उपयोग की रीति निर्धारित करके निश्चय ही संविधान के कानून को प्रभावित तो करती है पर उससे उसकी शब्दावली में, और जहाँ तक अदालतों का सम्बन्ध है उसके अर्थ और व्याख्या में भी, परिवर्त्तन नहीं होता। चलन और परिपाटी द्वारा संविधान के कानून में ऐसे बहुत से नियम जुड़ जाते हैं जो कानून के अंग न होने पर भी अनिवार्य माने जाते हैं, और जो किसी देश की राजनीतिक निकायों का व्यवस्थापन करते हैं और स्पष्ट ही शासन का अंग बन जाते हैं।

यह अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण है कि कानून से बाहरवाले इन नियमों का संविधान के साथ क्या सम्बन्ध होता है, क्योंकि अक्सर यह समझा जाता है कि उनका प्रभाव केवल अथवा मुख्यतः ऐसे देशों में पाया जाता है जिनमें कोई संविधान नहीं है। निस्सन्देह यह धारणा इस कारण से उत्पन्न हुई है कि इंगलैण्ड के

शासन में संवैधानिक चलन और परिपाटियों के महत्व और प्रभाव पर बड़ा जोर दिया जाता है। इस कारण लोग प्रायः कहते सुने जाते हैं कि इंगलैण्ड के शासन का संचालन मुख्यतया कानून के बाहरवाले नियमों द्वारा होता है। वास्तव में यह इंगलैण्ड में कानून और कानून के बाहरवाले नियमों के परस्पर आपेक्षिक महत्व का ठीक चित्र नहीं है—१८३२ से लगाकर १९४८ तक के जन-प्रतिनिधित्व विषयक कानून भी निस्सन्देह उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितनी मन्त्रिमण्डल के संचालन को प्रभावित करनेवाली परिपाटियाँ। किन्तु इंगलैण्ड की स्थिति के अलावा भी यह समझना बहुत आवश्यक है कि तमाम देशों में चलन और परिपाटियों का बड़ा महत्व होता है और बहुत से संविधानवाले देशों में भी उनका उतना ही महत्व है जितना इंगलैण्ड में। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि ए० वी० डाइसी को भी, जिसकी सबसे पहले १८८५ में प्रकाशित **लॉ आफ़ दि कॉंस्टिट्यूशन** नामक पुस्तक में इंगलैण्ड की संवैधानिक परिपाटियों के महत्व का बड़ा उत्कृष्ट विवेचन दिया हुआ है, यह बात भली-भाँति विदित थी। उसने लिखा था : "यह बात बिना अत्युक्ति कही जा सकती है कि संयुक्त राज्य के संविधान में भी परिपाटियों का उतना ही बड़ा अंश है जितना इंगलिस्तान के संविधान में।"

यहाँ एक शब्द 'चलन' और 'परिपाटी' के अन्तर के विषय में कहना उपयुक्त होगा। 'परिपाटी' से अभिप्राय ऐसे नियम से है जिसको मानने की बाध्यता हो—आचरण का ऐसा नियम जिसको मानना संविधान को कार्यान्वित करनेवाले लोग अनिवार्य समझें। 'चलन' साधारण कार्य-पद्धति से अधिक कुछ नहीं है। यह स्पष्ट है कि चलन धीरे-धीरे परिपाटी का रूप ले सकता है। जो काम साधारणतः किया जाता है वही धीरे-धीरे कर्त्तव्य बन जाता है। प्रायः यह बताना कठिन होता है कि अमुक आचरण बाध्यतामूलक है अथवा केवल अनुनयात्मक, और ऐसी हालत में यह कह सकना बड़ा सुविधाजनक होता है कि अमुक आचरण का चलन तो निश्चय ही है, किन्तु सम्भवतः उसकी परिपाटी भी है; अथवा भिन्न परिस्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि उसके परिपाटी होने में सन्देह है।

परिपाटियाँ कम-से-कम दो कारणों से तो बनती ही हैं। कभी-कभी तो, जैसा ऊपर कहा गया, किसी आचरण-विशेष का बहुत समय तक बार-बार चलन होने से उसे पहले अनुनयात्मक और फिर बाध्यतामूलक प्रभाव प्राप्त हो जाता है। इस

प्रकार की परिपाटियों को प्रायः 'रिवाज' या 'रीति' कहा जाता है। पर परिपाटी इससे कहीं अधिक शीघ्रता से भी बन सकती है। यह सम्भव है कि कुछ लोग मिलकर एक विशेष प्रकार से कार्य करने और आचरण का कोई विशेष नियम स्वीकार करने का निश्चय कर लें। यह नियम तुरन्त अनिवार्य होकर परिपाटी का रूप ले लेता है। उसका उद्‌गम किसी रीति-रिवाज में नहीं होता, उसके चलन का कोई पिछला इतिहास भी नहीं पाया जाता। वह किसी समझौते से उत्पन्न होता है। उसका आधार वास्तव में बहुत कुछ वैसी परिपाटियों जैसा ही होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निर्धारित होती हैं। उनको नैतिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से अनिवार्य समझा जाता है, पर जब तक किसी राज्य की उपयुक्त संस्था द्वारा उनका अधिनियमन नहीं हो जाता तब तक अधिकांश देशों में उनसे कानून में परिवर्त्तन नहीं होता, न उन्हें कानून का अंग ही माना जाता है।

समझौते से उत्पन्न होनेवाली परिपाटियों पर विचार करने से इस बात की ओर भी हमारा ध्यान जाता है कि ऐसी परिपाटियों को आसानी से लिखा भी जा सकता है। वे राजनीतिक पार्टियों के नेताओं द्वारा स्वीकृत समझौते का अथवा मन्त्रियों के विचार-विनिमय के बाद निकाले जानेवाले स्मरणपत्र का रूप ले सकती हैं। परिपाटियों का सदा अलिखित रूप में होना ही आवश्यक नहीं है, यद्यपि रीति-रिवाजों से उत्पन्न होनेवाली परिपाटियाँ आमतौर पर अलिखित ही होती हैं। इस बात पर जोर देना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे एक बार फिर इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि 'लिखित' और 'अलिखित' संवैधानिक नियमों में अन्तर करना कितना अपर्याप्त होता है। इस अन्तर का सही उपयोग बहुत कम हो पाता है, और अगर हो भी तो उससे लाभ कुछ नहीं होता।

कुछेक शासन-प्रणालियों में बहुत से परिपाटी सम्बन्धी नियम विधानमण्डल की दोनों सभाओं के स्थायी आदेशों के रूप में होते हैं और ये स्वभावतः लिखित ही होते हैं। यह भी मानना पड़ेगा कि कुछ देशों में इनका अधिनियमन भी होता है और उन्हें साधारण कानून का रूप दे दिया जाता है। कुछ देशों में, जैसे फ़िनलैण्ड और स्वीडन में, ये नियम सर्वोपरि सुघटित विधान में पाये जाते हैं जो यदि बाह्यतः नहीं तो कम-से-कम वस्तुतः अवश्य संविधान का ही अंग होता है। पर बहुत से देशों में विधानमण्डल की प्रत्येक सभा अपनी कार्यवाही के संचालन के

लिए प्रस्ताव स्वीकृत करके कुछ नियम बना लेती है जो पक्के तौर पर कानून का अंग नहीं माने जाते। यह भी मानना पड़ेगा कि कुछेक विद्वानों का मत है कि विधानमण्डल की सभाओं के स्थायी आदेश परिपाटी नहीं, कानून का ही अंग हैं, चाहे वे सम्बन्धित सभा के प्रस्ताव द्वारा ही क्यों न निश्चित हुए हों। कहीं-कहीं उन्हें विधानमण्डल की कार्रवाई का संचालन करनेवाली कानून की विशेष शाखा का अंग भी माना जाता है। इस युक्ति का कहीं-कहीं ठीक होना अवश्य सम्भव है, पर ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जहाँ स्थायी आदेश कानून का अंग नहीं हैं और जहाँ उन्हें केवल परिपाटी, बल्कि लिखित परिपाटी, मानना ही न्यायसंगत जान पड़ता है।

पिछले विवेचन में जो सूक्ष्म अन्तर दिखाया गया है वह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम इस बात पर विचार करने लगते हैं कि चलन और परिपाटियों का संविधान के कानून पर कितनी तरह से प्रभाव पड़ता है। चलन और परिपाटी के प्रभाव का सबसे पहला रूप तो यह है कि उनसे संविधान का निर्देश-विशेष निरर्थक हो जाता है। इस बात को इस तरह से भी कहा जा सकता है कि परिपाटी कानून को पंगु बना देती है। इस बात पर जोर देना जरूरी है कि परिपाटी से कानून का संशोधन अथवा उन्मूलन नहीं होता। वह किसी अंग को काटती नहीं, केवल उसके उपयोग को असम्भव कर देती है। परिपाटी के इस प्रभाव का सुविदित उदाहरण इस बात में मिलता है कि बहुत से संविधानों में राष्ट्र के प्रधान को विधानमण्डलों द्वारा स्वीकृत कानूनों को निषेधाधिकार के उपयोग द्वारा अथवा स्वीकृति देने से इन्कार करके भंग करने का जो अधिकार मिला होता है वह परिपाटी द्वारा निरर्थक हो जाता है। डेनमार्क, स्वीडन, नॉर्वे के संविधानों में राजा को इस बात के अधिकार मिले हुए हैं कि वह विधानमण्डलों द्वारा स्वीकृत कानूनों को मान्यता देने से इन्कार कर दे, पर तीनों ही देशों में अब यह बात मानी जा चुकी है कि राजा अपने इस अधिकार का उपयोग नहीं करेगा। डेनमार्क के राजा ने १८६५ के बाद से किसी अधिनियम को मान्यता देने से इन्कार नहीं किया है, और यद्यपि स्वीडन के राजा ने १९१२ में एक अधिनियम को निषेधाधिकार द्वारा अमान्य किया था, परन्तु उस समय उसके इस कार्य को मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त था। इसी भाँति हॉलैण्ड और बेल्जियम में भी राजा का कानून को अमान्य

करने का अधिकार परिपाटी द्वारा निरर्थक हो गया है।

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के जिन देशों में राजतन्त्रीय शासन-पद्धति मौजूद है, वहाँ साधारणतः राजा को अथवा उसके प्रतिनिधि महाराज्यपाल को अधिनियम को अमान्य करने का अधिकार प्राप्त है। पर इन तमाम देशों में परिपाटी द्वारा यह सर्वमान्य हो चुका है कि इस अधिकार का उपयोग नहीं किया जायगा। राष्ट्रमण्डल के कुछ संविधानों में ऐसे भी निर्देश मिलते हैं जो महाराज्यपाल को यह अधिकार देते हैं कि वह किसी भी अधिनियम को राजा की इच्छा जानने के लिए रोककर रख सके, अथवा जो राजा को यह अधिकार देते हैं कि वह राष्ट्रमण्डल के विभिन्न देशों की संसदों द्वारा नियमतः स्वीकृत और महाराज्यपाल द्वारा मान्य अधिनियम को अस्वीकृत कर दे। उदाहरण के लिए कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड के संविधानों में ऐसे अधिकार मौजूद हैं। किन्तु परिपाटी द्वारा यह बात स्वीकृत हो चुकी है कि उस देश की सरकार की इच्छा के विरुद्ध राजा किसी विधेयक के बारे में कोई कार्रवाई न करेगा, और उसके लिए अब अस्वीकार करने के अधिकार का प्रयोग करना सम्भव नहीं रहा है।

इस बात पर ध्यान देना शायद दिलचस्प हो कि महाराज्यपाल के निषेधाधिकार को निरर्थक बनानेवाली परिपाटी वास्तव में एक रिवाज पर आधारित है जिसका ब्रिटेन में विकास हुआ और जो अब सागरपार के देशों में भी जा पहुँची है। किसी लिखित दस्तावेज में उसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु अधिनियम को रोक रखने और अमान्य करने के अधिकार से सम्बन्धित परिपाटियाँ बहुत हद तक रीति-रिवाजों से उत्पन्न होने पर भी १९३० के साम्राज्यिक सम्मेलन में उन्हें लिखित रूप दे दिया गया था। वे बहुत हद तक एक मौजूदा रिवाज को मान्यता भर ही देती हैं, पर साथ ही वे विभिन्न सरकारों के बीच इस समझौते को, और विशेषकर इंगलिस्तान की सरकार के इस आश्वासन को भी, प्रगट करती हैं कि वह अधिराज्यों की इच्छा के विरुद्ध राजा को निषेध तथा अमान्यता के अधिकार का उपयोग करने की सलाह न देगी। निस्सन्देह इस समझौते से विभिन्न सरकारों का सम्बन्ध होने के कारण ही इस परिपाटी को लिखित रूप में स्वीकार करके उसकी पुष्टि की गयी।

परिपाटी द्वारा कानूनी अधिकार के निरर्थक हो जाने का एक और उदाहरण

तीसरे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान से मिलता है। उसमें एक निर्देश था कि प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति सीनेट की सहमति प्राप्त होने पर लोकसभा को भंग कर सकता है। इस अधिकार का प्रयोग एक बार प्रजातन्त्र की स्थापना के दो वर्ष बाद ही १८७७ में राष्ट्रपति मैकमैहन ने किया था। उसके बाद इसका उपयोग कभी नहीं हुआ, न उसका उपयोग उचित ही समझा गया। जिन परिस्थितियों में मि० मैकमैहन ने लोकसभा को भंग किया और उसके फलस्वरूप जो विवाद चला उससे यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग करने का प्रयत्न प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को भंग करने के बराबर है। यह भी रिवाज हो गया कि राष्ट्रपति का संविधान में वही स्थान समझा जाय जो जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा का होता है और इसलिए इस प्रकार का कोई कार्य करने का उसका अधिकार निरर्थक हो गया।

तीसरे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र और संयुक्त राज्य में ऐसे भी दिलचस्प उदाहरण मिलते हैं कि संविधान द्वारा दिये हुए अथवा कम-से-कम उसमें अ-निषिद्ध अधिकारों के निरर्थक होने के सम्बन्ध में कुछ मतभेद उपस्थित हो जाय। जैसे यह कहा जाता था कि परिपाटी द्वारा राष्ट्रपति के पद पर किसी व्यक्ति के फिर से निर्वाचित होने पर रोक है। तीसरे प्रजातन्त्र के संविधान में यह लिखा था कि प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति का चुनाव सीनेट और लोक-सभा की सम्मिलित बैठक में पूर्ण बहुमत द्वारा होगा और उसे फिर से चुने जाने का अधिकार होगा। अमरीकी संविधान में भी राष्ट्रपति के फिर से चुनाव के लिए खड़े होने के बारे में कोई प्रतिबन्ध नहीं दिखाई पड़ता था। पर व्यवहार में क्या होता था? १९३९ तक फ्रांस में यह सर्वमान्य परिपाटी बन चुकी थी कि राष्ट्रपति को दुबारा चुनाव के लिए खड़ा नहीं होना चाहिये और एक बार ( सात वर्ष के लिए ) राष्ट्रपति बनने से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। संयुक्त राज्य में भी यही परिपाटी बन गयी थी कि राष्ट्रपति को एक से अधिक बार पुनर्निर्वाचन के लिए नहीं खड़े होना चाहिये। किन्तु १९३९ में फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति मोशिये लेब्रूँ पहली पद-अवधि के सात वर्ष बीत जाने के बाद फिर दूसरी बार राष्ट्रपति चुन लिये गये। १९४० में फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट तीसरी बार और १९४४ में चौथी बार संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति चुने गये। इन घटनाओं का महत्व क्या है? क्या इसका यह अर्थ है कि जो चीज फ्रांस में १९३९ तक और संयुक्त राज्य में १९४० तक परिपाटी जान पड़ती थी वह वास्तव में

केवल एक चलन भर था ? या यह कहना अधिक सही है कि उस समय तक एक परिपाटी मौजूद थी जो फ्रांस में १९३९ की तथा संयुक्त राज्य में १९४० की कार्रवाई से संशोधित हो गयी अथवा उन्मूलित हो गयी अथवा एकदम भंग हो गयी ? या सही व्याख्या यह है कि परिपाटी केवल यह थी कि साधारणतः तथा आमतौर पर फ्रांस में एक ही व्यक्ति का दूसरी बार और संयुक्त राज्य में तीसरी बार राष्ट्रपति पद के लिए चुना जाना ठीक नहीं है, पर असाधारण परिस्थितियों में इस साधारण नियम का अपवाद होना उचित भी था और उसकी अनुमति भी थी ? इस अन्तिम व्याख्या को इस बात से भी बल मिलता है कि १९३९ में फ्रांस में जिन लोगों ने मोशिये लेब्रूँ का नाम फिर से प्रस्तावित किया वे अपने कार्य को इसी बुनियाद पर सही ठहराते थे कि यूरोप की राजनीतिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल है। इसी भाँति १९४० में राष्ट्रपति रूजवेल्ट का तीसरी बार राष्ट्रपति-पद के लिए खड़ा होना इसी आधार पर उचित ठहराया गया था कि युद्ध की आसन्नता के कारण संयुक्त राज्य की राजनीति के संचालन में व्यतिक्रम होना ठीक नहीं है। १९४४ में यह युक्ति और भी प्रबल थी क्योंकि उस समय तो संयुक्त राज्य पूरी तरह से युद्ध में संलग्न हो चुका था।

इसलिए यह निष्कर्ष निकालना उचित जान पड़ता है कि फ्रांस और संयुक्त राज्य दोनों देशों में क्रमशः दूसरी और तीसरी बार राष्ट्रपति-पद के लिए खड़े होने के विरुद्ध एक परिपाटी बन चुकी थी। फ्रांसीसी राष्ट्रपति साधारणतः चुनाव के समय यह घोषणा करके इस परिपाटी को स्वीकार करते थे कि वे फिर से चुनाव के लिए खड़े नहीं होंगे। संयुक्त राज्य में एक बात तो सदा से संदिग्ध थी। वहाँ राष्ट्रपति की मृत्यु होने पर उप-राष्ट्रपति के राष्ट्रपति बनने का नियम है। इसलिए वह सदा इस बात का दावा कर सकता है कि चुनाव द्वारा वह राष्ट्रपति नहीं बना है इसलिए दो बार खड़े होने का अधिकार तो उसे है ही। पर इस संदिग्ध स्थिति को छोड़कर यह निश्चित है कि संयुक्त राज्य में तीसरी बार राष्ट्रपति न बनने की परिपाटी बन गयी थी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट का तीसरी और चौथी बार पुनर्निर्वाचन होने से संयुक्त राज्य के राजनीतिज्ञों में यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि इस परिपाटी के पीछे नियम अच्छा है और, जैसा बाद में समझाया जायगा, इस परिपाटी को कानून का रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र में

संविधान में राष्ट्रपति के पुनर्निवाचन की आज्ञा तो है, पर केवल एक और पद-अवधि के लिए। यह अध्ययन बड़ा दिलचस्प होगा कि कोई चलन अथवा परिपाटी ऐसी बन जाय कि एक व्यक्ति केवल एक ही बार राष्ट्रपति बन सके और उसका पुनर्निवाचन के लिए खड़े होने का अधिकार निरर्थक हो जाय।

यद्यपि परिपाटी कभी-कभी संविधान के कानून को निरर्थक कर देती है और उसमें दिये हुए अधिकारों का उपयोग असम्भव बना देती है, तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसका प्रभाव सदा ही इतना अधिक हो। प्रायः होता यह है कि संविधान द्वारा दिये गये अधिकारों का उपयोग तो सचमुच किया जाता है, किन्तु जहाँ कानून के अनुसार उनका उपयोग उन लोगों को करना चाहिये जिनको वे अधिकार दिये गये हैं, वहाँ व्यवहार में कोई और व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समुदाय उनका उपयोग करता है। संक्षेप में परिपाटी संविधान में दिये गये अधिकारों को एक व्यक्ति से लेकर दूसरे को दे देती है।

इस अधिकार-परिवर्त्तन का पहला उदाहरण मन्त्रिमण्डल-शासनवाले देशों में मन्त्रियों की नियुक्ति के ढंग में मिलता है। ऐसे बहुत से देशों में कानून की दृष्टि से मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार राजा को है; व्यवहार में परिपाटी ऐसी चल पड़ी है कि वह केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करता है जिनके नाम प्रधानमन्त्री उसके पास भेजता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संविधान द्वारा मिले हुए कानूनी अधिकार का उपयोग राजा करता है; पर वह उपयोग प्रधानमन्त्री की सलाह से संचालित होता है। कनाडा के संविधान पर एक दृष्टि डालने से बात स्पष्ट हो जाती है। संविधान में—अर्थात् **ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिका ऐक्ट** १८६७ में—लिखा है कि 'कनाडा के शासन में सहायता करने और सलाह देने के लिए एक परिषद होगी जिसे कनाडा के लिए रानी की राजपरिषद् कहा जायगा, और उस परिषद के सदस्य समय-समय पर महाराज्यपाल चुनेंगे और उन्हें बुलाकर राजपरिषद के सदस्य के रूप में शपथ दिलायेंगे, और ये सदस्य समय-समय पर महाराज्यपाल द्वारा हटाये भी जा सकेंगे।' कानून यही है और यह राजा के प्रतिनिधि महाराज्यपाल को पूरा-पूरा और स्पष्ट अधिकार देता है कि वह जिसको चाहे कनाडा के शासन में सलाह देने और सहायता करने के लिए नियुक्त करे। पर व्यवहार में परिपाटी यही है कि महाराज्यपाल प्रधानमन्त्री की सलाह से ही मन्त्रियों की नियुक्ति

करता है। जो बात कनाडा के विषय में सही है वही थोड़े बहुत परिवर्त्तनों के साथ, और कानून तथा परिपाटी के बीच नियन्त्रण की सीमा के अन्तर के साथ, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड, दक्षिणी अफ्रीका के बारे में और स्कैन्डीनेविया के राजतन्त्रों तथा हॉलैंड और बेल्जियम के बारे में भी सही है।

अधिकांश देशों में, जहाँ मन्त्रिमण्डलीय शासन अथवा संसदीय कार्यकारिणी की पद्धति प्रचलित है, यह देखा जाता है कि परिपाटी राज्य के प्रधान के अधिकारों को शासन के व्यावहारिक क्षेत्र में दूसरे लोगों को सौंप देती है। स्वयं प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में, विधानमण्डल को भंग करने में, कार्यकारी अधिकारों के उपयोग में, और विशेष रूप से युद्ध की घोषणा करने के अधिकार के उपयोग में, विदेशी नीति के संचालन तथा नियुक्तियों के मामले में प्रायः यह देखा जाता है कि जो अधिकार संविधान के कानून द्वारा राज्य के प्रधान को प्राप्त हैं, वे परिपाटी द्वारा दूसरे लोगों द्वारा ही काम में लाये जाते हैं और उनके लिए ये दूसरे लोग ही उत्तरदायी समझे जाते हैं। इस बारे में कोई सामान्य नियम बनाना सम्भव नहीं है कि प्रत्येक देश में किस हद तक परिपाटी इस अधिकार-परिवर्त्तन को निर्धारित करती है। अलग-अलग संविधानों में इन अधिकारों के उपयोग के लिए निर्दिष्ट पद्धतियों की सीमा अलग-अलग है। इसके अलावा जहाँ चलन और परिपाटी दोनों का प्रभाव मौजूद हो, वहाँ यह बताना भी कठिन है कि किस हद तक चलन का असर है और किस हद तक परिपाटी का। इसी प्रकार चलन और परिपाटी को निश्चित शब्दों में रखना भी कठिन होता है। किन्तु इतना अवश्य पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि चलन और परिपाटी दोनों ही विभिन्न देशों में विभिन्न मात्रा में कानूनी अधिकार के व्यावहारिक उपयोग को दूसरों तक हस्तान्तरित होने में सहायक होते हैं।

इन मामलों में परिपाटियों को निश्चित शब्दों में रखने की कठिनाई को एक उदाहरण द्वारा भली भाँति समझाया जा सकता है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों में राजा के प्रतिनिधि को संविधान द्वारा इस बात का निर्विवाद कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वह संसद को भंग कर सके। इस बात पर शायद बिना अधिक विवाद के ही सभी सहमत होंगे कि इस अधिकार का उपयोग केवल प्रधान मन्त्री की सलाह पर ही होना चाहिये, यद्यपि इसमें भी थोड़े-बहुत मतभेद की गुंजाइश इस

बात को लेकर हो सकती है कि प्रधानमन्त्री को अपने मन्त्रिमण्डल की सलाह के बिना अथवा मन्त्रिमण्डल के विचारों के विरुद्ध भी कार्य करने का अधिकार है या नहीं। पर यह मान लेने के बाद भी, कि राजा के प्रतिनिधि को केवल किसी प्रधानमन्त्री की सलाह से ही काम करना चाहिये, यह प्रश्न उठता है कि इसका अभिप्राय केवल तत्कालीन प्रधानमन्त्री से है अथवा नहीं। राजा के प्रतिनिधि को मौजूदा प्रधान मन्त्री की सलाह माननी चाहिये या ऐसे अन्य प्रधानमन्त्री की तलाश करनी चाहिये जो सरकार बना सके और संसद को भंग किये बिना ही शासन चला सके ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि परिपाटी द्वारा संसद को भंग करने का अधिकार मौजूदा प्रधानमन्त्री को होता है और वह जब भी चाहे संसद को भंग करवा सकता है। दूसरे लोग कहते हैं कि राजा के प्रतिनिधि को इस विषय में मानने न मानने का अधिकार प्राप्त है और यदि कोई दूसरा प्रधानमन्त्री ऐसा मिल सके जो टिकाऊ सरकार बनाने में समर्थ हो तो यह उचित है कि राजा का प्रतिनिधि मौजूदा प्रधान मन्त्री की संसद को भंग करने की सलाह मानने से इन्कार कर दे। इसी सिद्धान्त के ऊपर दक्षिणी अफ्रीका के महाराज्यपाल सर पैट्रिक डंकन ने १९३९ में जनरल हर्टज़ोग के संसद में परास्त होने पर संसद भंग करने से इन्कार कर दिया था और उनके स्थान पर जनरल स्मट्स को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया था। जनरल स्मट्स को बहुमत का समर्थन प्राप्त था इसलिए संसद को भंग करने की कोई जरूरत ही नहीं हुई। ये सब विवादास्पद बातें हैं और इसको नियन्त्रित करनेवाली परिपाटियों को किन्हीं निश्चित शब्दों में रखना बड़ा कठिन होगा।

परिपाटी द्वारा कानूनी अधिकार के हस्तान्तरण का एक और दिलचस्प उदाहरण संयुक्त राज्य के संविधान के उन निर्देशों के उपयोग में पाया जाता है जो राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित हैं। निर्वाचन का कानूनी अधिकार निर्वाचन-गणों के हाथ में होता है जो प्रत्येक राज्य में राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्धारित उपाय से चुने जाते हैं। किन्तु परिपाटी यह है कि ये निर्वाचक-गण अपने निर्णय का कोई उपयोग नहीं करते। वास्तव में उनका चुनने का अधिकार एक तो पार्टी-संगठनों के हाथ में चला गया है जो यह निश्चय करते हैं कि कौन से उम्मीदवार खड़े होंगे, और दूसरे उन मतदाताओं के हाथ में चला गया है जो

कानून द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के अन्तर्गत यह तै करते हैं कि उन उम्मीदवारों में से कौन चुना जायगा। निर्वाचक-गणों से केवल मतदाताओं की पसन्द के आँकड़े भर प्राप्त होते हैं, अधिक कुछ नहीं। यह सही है कि यह परिणाम केवल परिपाटी के कारण ही नहीं हुआ है ; इसके पीछे बहुत-सा कानून का भी जोर मौजूद है जो प्रत्येक राज्य में अलग-अलग है। परन्तु पार्टी-संगठन की समूची शक्ति से परिपुष्ट परिपाटी का योग सबसे महत्वपूर्ण है।

कानूनी अधिकारों के व्यवहार में एक व्यक्ति से दूसरे के पास पहुँच जाने का संयुक्त राज्य में एक और उदाहरण मिलता है। संविधान के निर्देशों के अनुसार राष्ट्रपति को नियुक्तियों का बड़ा भारी अधिकार प्राप्त है। वह इस बात में मन्त्रि-मण्डल द्वारा शासनवाले राज्यों के प्रधान से भिन्न है और इस अधिकार का उपयोग उच्चतम पदों की नियुक्ति के लिए स्वयं ही करता है। किन्तु अन्य अधिकांश नियुक्तियों के मामले में उसका अधिकार एक ऐसी परिपाटी द्वारा लगभग सारा ही उसके हाथ से चला गया है, जिसे आम तौर पर 'सीनेटरों के प्रति शिष्टाचार' कहा जाता है। ऐसी परिपाटी चल पड़ी है कि राष्ट्रपति की अपनी पार्टी के सीनेटरों को यह अधिकार है कि संयुक्त राज्य के अन्तर्गत जो भी पद उनके अपने-अपने राज्यों में खाली हों उनकी नियुक्तियों के लिए वे राष्ट्रपति को सुझाव देंगे और आम तौर पर राष्ट्रपति उनके सुझावों को मान लेंगे। यदि किसी राज्य से राष्ट्रपति की पार्टी के कोई सीनेटर न हों तो राष्ट्रपति उस राज्य में अपनी पार्टी के नेताओं और पदाधिकारियों के सुझावों को स्वीकार कर लेंगे। इस प्रकार राष्ट्रपति का नियुक्तियों का अधिकार बहुत सारे पदों के मामलों में स्वयं राष्ट्रपति के हाथ से पार्टी के नेताओं, विशेषकर सीनेटरों के हाथ में चला गया है।

चलन और परिपाटी से संविधानों में एक और प्रकार का भी परिवर्त्तन होता है। उनसे कानून की पूर्त्ति होती है। कानून द्वारा जो अधिकार किसी व्यक्ति अथवा संस्था को मिले होते हैं उनका उपयोग सचमुच उस संस्था द्वारा तो होता है—परिपाटी के फलस्वरूप वे निरर्थक अथवा हस्तान्तरित नहीं होते—पर उससे मामला थोड़ी दूर तक ही आगे बढ़ पाता है। किन्तु उसकी व्यवस्था कैसे होती है इसे पूरी तरह समझने के लिए चलन और परिपाटी को सामने लाना जरूरी है। संविधान के कानून की परिपाटी द्वारा पूर्त्ति करने का एक सहज उदाहरण विधान-

मण्डलों के स्थायी आदेशों में मिलता है। कानून बनाने के अधिकार दोनों सभाओं को प्राप्त तो होते हैं ; पर किस रीति से इन अधिकारों का उपयोग हो यह स्थायी आदेशों द्वारा निर्धारित होता है। इस भाँति फ्रांसीसी राष्ट्रीय विधान-सभा और प्रजातन्त्र परिषद की समिति-व्यवस्था संविधान नहीं, बल्कि इन निकायों के स्थायी आदेशों द्वारा स्थापित हुई है। यही स्थिति तीसरे प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सीनेट और प्रतिनिधि-सभा की थी। फ्रांसीसी शासन में इस समिति-व्यवस्था का अधिकतम महत्व है। उसका मन्त्रिमण्डल तक पर प्रभाव पड़ता है और फ्रांसीसी मन्त्रिमण्डलों के अपेक्षाकृत स्थायित्वहीन होने में इस बात का भी कुछ कम योग नहीं है। विशेषकर यह नियम, कि विधान-सभा का समर्थन मिलने के पहले हर अधिनियम पर समिति में विचार होना जरूरी है सरकार की स्थिति को कमजोर कर देता है, क्योंकि यह काम समिति के हाथ में पहुँच जाता है कि वह अधिनियम में जो उचित समझे परिवर्त्तन करने का प्रस्ताव रखे।

फ्रांस में इस व्यवस्था के महत्व का निर्णय हम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की उन संसदीय प्रणालियों से तुलना करके कर सकते हैं जो इंगलिस्तान की संसद के नमूने पर बनी हैं। इन देशों में परिपाटी के आधार पर एक भिन्न प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है, यद्यपि वह भी भिन्न स्थायी आदेशों के रूप में ही व्यक्त होती है। इन ब्रिटिश प्रणालियों में स्थायी आदेशों का निर्देश यह है कि जब तक विधान-सभा द्वितीय वाचन द्वारा किसी विधेयक को स्वीकार नहीं कर लेती तब तक उस पर किसी समिति में विचार नहीं किया जा सकता। इस भाँति समिति की कार्रवाई इस बात तक ही सीमित रहती है कि वह विधेयक के ब्योरे की बातों में संशोधन उपस्थित कर सके, उसके सिद्धान्त के बारे में नहीं, क्योंकि सिद्धान्त तो पहले ही विधान-सभा में स्वीकृत हो चुका होता है। इन दोनों प्रणालियों के गुण-दोषों पर विवाद हो सकता है। पर हमारे लिये महत्व की बात यह है कि परिपाटी द्वारा किसी देश की वैधानिक प्रक्रिया में समूचे शक्ति-सन्तुलन पर प्रभाव डाला जा सकता है। संविधान के कानून को परिपाटियों द्वारा पूरित किया जा सकता है और उसे एक नया अर्थ प्राप्त हो सकता है। इन देशों की विधान-पद्धति को कानून के साथ-साथ परिपाटियों पर ध्यान दिये बिना नहीं समझा जा सकता।

कुछ देशों में मन्त्रिमण्डल की रचना चलन और परिपाटी से निर्धारित अथवा

प्रभावित होती है। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति को कानून की दृष्टि से इस बात का पूरा-पूरा अधिकार है कि वह जिसे चाहें अपने मन्त्रिमण्डल का सदस्य नियुक्त करें। पर कम-से-कम व्यवहार में वह सदा इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके मन्त्रिमण्डल के तमाम सदस्य केवल पूर्वी राज्यों के, अथवा केवल मध्य-पश्चिमी राज्यों के न हों। वह इस प्रकार से नियुक्तियाँ करते हैं कि संयुक्त राज्य के वे तमाम मुख्य प्रदेश, जिनका उनके लिए राजनीतिक महत्व है, कुछ-न-कुछ प्रतिनिधित्व अवश्य पा सकें। इस बात को किसी नियम के रूप में रखना कठिन है, पर तो भी शायद यह कहना सही है कि वह अपने मन्त्रिमण्डल में संघात्मकता लाने की परिपाटी कायम रखने का प्रयत्न करते हैं।

ऑस्ट्रेलिया और कनाडा में इस सिद्धान्त का भी दृढ़तापूर्वक पालन होता है। ऑस्ट्रेलिया में यह सर्वस्वीकृत है कि यदि सम्भव हो तो राष्ट्रमण्डल के मन्त्रिमण्डल में छहों राज्यों के प्रतिनिधि रहने चाहिये। यह हमेशा सम्भव चाहे न भी हो, पर यह भाव बना रहता है कि होना ऐसा ही चाहिये और ऐसा न होना अन्याय की बात है जिसका कारण बताया जाना आवश्यक है। कनाडा में तो कुछ बहुत ही निश्चित पक्के नियम जैसे बन गये हैं जिनमें से सर्वप्रथम तथा सबसे अधिक अनिवार्य यह है कि कनाडा के मन्त्रिमण्डल में फ्रेंच और अँग्रेजी दोनों भाषाओं के बोलनेवाले कनाडावासी अवश्य होने चाहिये तथा क्यूबेक का प्रतिनिधित्व अवश्य रहना चाहिये। दूसरे यदि तनिक भी सम्भव हो तो कनाडा के दसों प्रान्तों का कम-से-कम एक-एक प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में अवश्य होना चाहिये। फिर एक चलन, बल्कि शायद परिपाटी यह है कि क्यूबेक और औन्टोरियो का प्रतिनिधित्व लगभग बराबर का होना चाहिये; क्यूबेक के प्रोटेस्टेन्ट मतावलम्बी अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधित्व मन्त्रिमण्डल में होना चाहिये; सम्भवतः क्यूबेक से बाहरवाले अँग्रेजी भाषाभाषी कैथलिकों का प्रतिनिधित्व रहना चाहिये और क्यूबेक से बाहर के फ्रेंच कनाडावासियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। स्पष्ट ही ये सब व्यवस्थाएँ एक साथ पूरी करना सदा सम्भव नहीं होता पर उनके लिए इतना दबाव रहता है जिसके कारण वे अनिवार्य-सी हो जाती हैं। इस प्रकार कनाडा में और ऑस्ट्रेलिया में चलन और परिपाटी दोनों से संविधान के कानून की पूर्ति होती है। कानून तो केवल उस संस्था की रूपरेखा भर ही प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा कार्यकारी

अधिकार का प्रयोग होना है। अवश्य ही इस रूपरेखा के साथ-साथ ऐसे वैधानिक निर्देश भी हैं जिनसे मन्त्रालयों की स्थापना और विभागों के संगठन में सहायता मिलती है, पर जैसा ऊपर दिखाया गया है, चलन और परिपाटी से भी संविधान की पूर्त्ति होती है।

परिपाटी से किस प्रकार संविधान के कानून में पूर्त्ति होती है इस विषय में एक दिलचस्प तुलना हमें तब मिलती है जब हम अमरीकी प्रतिनिधिसभा और कनाडा की लोक-सभा में अध्यक्ष के स्थान और कर्त्तव्य के अन्तर पर विचार करते हैं। संविधान में दोनों ही जगह लगभग एक से निर्देश हैं। दोनों संविधानों में प्रत्येक सभा को अध्यक्ष चुनने का अधिकार दिया गया है पर उसके अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। परिपाटी के फलस्वरूप अमरीकी सभा का अध्यक्ष बहुसंख्यक पार्टी का प्रमुख नेता ही होता है और कनाडा में इसका ठीक उलटा। अमरीकी अध्यक्ष अपनी पार्टी के विधानमण्डलीय कार्यक्रम का सक्रिय संगठनकर्त्ता होता है; वास्तव में वह बहुत से ऐसे कार्य करता है जो इंगलिस्तान, कनाडा अथवा मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था वाले किसी भी देश में प्रधानमन्त्री अथवा लोक-सभा की बहुसंख्यक पार्टी का प्रधान नेता करता है। कनाडा का अध्यक्ष यद्यपि राजनीति से इतना दूर तो नहीं रहता जितना ब्रिटेन में हाऊस आफ कामन्सका अध्यक्ष रहता है, तो भी बहुत कुछ वह उसी आदर्श के अनुरूप है। कनाडा में परिपाटी के फलस्वरूप इस पद पर और भी अधिक नियन्त्रण लग गये हैं क्योंकि यह आम तौर पर मान लिया गया है कि अध्यक्ष-पद एक संसद में फ्रेंच भाषा-भाषी सदस्य को मिलेगा और दूसरी में अँग्रेजी भाषा-भाषी सदस्य को। बल्कि स्थायी आदेशों में एक यह भी निर्देश है कि यदि अध्यक्ष फ्रेंच भाषा-भाषी हो तो उपाध्यक्ष अँग्रेजी भाषा-भाषी होगा और यदि अध्यक्ष अँग्रेजी बोलनेवाला हुआ तो उपाध्यक्ष फ्रेंच बोलनेवाला होगा। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के तमाम देशों में अध्यक्ष का पद न्यूनाधिक मात्रा में चलन और परिपाटी द्वारा ही नियन्त्रित होता है। अलग-अलग स्थानों पर विस्तार के मामलों में काफी विविधता है, किन्तु एक बात पर सभी सहमत हैं—पार्टी का नेता एक साथ ही अध्यक्ष और पार्टी का प्रधान नहीं हो सकता।

इस बात पर बार-बार ध्यान दिलाना जरूरी है कि चलन और परिपाटी को संविधान के कानून से अलग करके देखना ठीक नहीं होगा। वे एक दूसरे को प्रभा-

वित करते चलते हैं और एक के बिना दूसरा पूरी तरह सफल नहीं होता। उनके बीच जो रेखा खींची जाती है वह प्रायः बहुत सूक्ष्म होती है और कभी-कभी यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि अमुक बात को संविधान के कानून में सम्मिलित कर लिया जाय या उसे चलन तथा परिपाटी द्वारा निर्धारित होने को छोड़ दिया जाय। इस बात का अच्छा उदाहरण स्विट्ज़रलैण्ड में मिलता है। संविधान का निर्देश है कि सात सदस्योंवाली संघीय परिषद के दो सदस्य एक ही कैन्टन (प्रान्त) के नहीं हो सकते। यहाँ यह बात संविधान के कानून में सम्मिलित कर ली गयी है, किन्तु कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में इसे एकदम चलन और परिपाटी के लिए छोड़ दिया गया है। साथ ही स्विट्ज़रलैण्ड में परिपाटी का हाथ तो मौजूद है ही, क्योंकि यह मान लिया गया है कि बर्न, ज्यूरिच और वॉड के कैन्टनों का परिषद में हमेशा प्रतिनिधित्व रहेगा और सात में से पाँच से अधिक सदस्य जर्मन भाषा-भाषी कैन्टनों से न चुने जायेंगे। इस भाँति संघीय परिषद की रचना को संविधान के कानून और परिपाटी के सम्मिश्रण द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों के अनुरूप बना लिया गया है।

इसके अलावा यह बात भी दिलचस्प है कि जो बातें एक देश में अधिकतर चलन और परिपाटी के सहारे चलती हैं वे दूसरे में कानून द्वारा नियन्त्रित होती हैं। परिपाटियों को न केवल लिख लिया जाता है बल्कि उन्हें संविधान का ही एक अंश बना लिया जाता है। इस भाँति कार्यकारिणी की मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली को मानने वाले सभी देशों ने मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण को साधारण कानूनों अथवा चलन तथा परिपाटी के लिए नहीं छोड़ दिया है। आयरलैंड के संविधान में कई एक निर्देश ऐसे हैं (धारा १३ और २८) जिनमें मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण करनेवाले नियमों की काफी विस्तार से व्याख्या की गयी है। यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचित विधान-सभा के प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्र-पति ही करेंगे; दूसरे मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के प्रस्ताव के अनु-सार, किन्तु विधान-सभा का पहले समर्थन मिल जाने पर, करेंगे; विधान-सभा को राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के कहने पर बुलायेंगे और भंग करेंगे; सरकार विधान-सभा के आगे उत्तरदायी होगी; विधान-सभा में बहुमत का समर्थन न रहने पर प्रधान-मन्त्री को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ेगा, किन्तु यदि उसकी सलाह पर राष्ट्रपति

विधान-सभा को भंग कर दें और यदि विधान-सभा के फिर बैठने पर प्रधानमन्त्री को बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जाय तो उसे पद-त्याग नहीं करना पड़ेगा; प्रधानमन्त्री के अपने पद से त्यागपत्र दे देने पर सरकार के अन्य सदस्यों का भी त्यागपत्र देना मान लिया जायगा।

इस तरह की विस्तार की बातों पर चौथे फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के संविधान में भी निर्देश मौजूद हैं ( धाराएँ ४५-५५ )। प्रधानमन्त्री के नाम का प्रस्ताव राष्ट्रपति द्वारा होगा; उसके बाद प्रस्तावित प्रधानमन्त्री को राष्ट्रीय विधान-सभा के सामने उपस्थित होकर उससे अपने कार्यक्रम के लिये नियमित विश्वास-प्रस्ताव की माँग करनी पड़ेगी; यदि उसे विधान-सभा के तमाम सदस्यों के ( ध्यान रहे, केवल उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के नहीं ) पूर्ण बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जाय तो राष्ट्रपति नियमित रूप से उसकी और उसके अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेंगे। संविधान का आदेश है कि मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति के लिए सामूहिक रूप से और अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिये अलग-अलग उत्तरदायी माना जायगा। विधान-सभा में अविश्वास का प्रस्ताव रखने का ढंग भी निश्चित कर दिया गया है और यह निर्देश है कि यदि ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय तो मन्त्रिमण्डल को सामूहिक त्यागपत्र अपने आप ही देना पड़ेगा; और अन्त में यह भी निश्चित कर दिया गया है कि इस प्रकार पराजित मन्त्रिमण्डल किन परिस्थितियों में विधान-सभा के भंग करने की स्वीकृति प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार फ्रांस में बहुत-सी ऐसी बातें स्वयं संविधान में अधिनियमित हैं जिन्हें चलन और परिपाटी के लिए छोड़ा जा सकता था। पर दिलचस्प बात यह है कि वहाँ भी इस बात को साफ-साफ स्वीकार किया गया है कि इन संस्थाओं के कार्य में परिपाटी का सहयोग आवश्यक है। फ्रांसीसी संविधान की धारा ४५ में कहा गया है कि प्रत्येक विधानमण्डल के उद्घाटन पर प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति 'विचार विनिमय की रीति पूरी करके' प्रधानमन्त्री का नाम प्रस्तावित करेंगे। इस भाँति संविधान में फ्रांस के प्रधानमन्त्री के चुनाव के पीछे पार्टियों के जटिल विचार-विनिमय और वार्त्तालाप के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया है; साथ ही यद्यपि इस बात को स्वीकार तो किया जा सकता है पर संविधान में उनको निश्चित शब्दों में रखना बड़ा कठिन काम है।

चलन तथा परिपाटी और संविधान के कानून के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी परिपाटी ही, शायद स्वयं संविधान में संशोधन द्वारा सम्मिलित होकर, कानून का रूप ले लेती है। यह शायद इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि बहुत बार परिपाटी की अपेक्षा कानून का अनुशासन अधिक दृढ़ होता है। या यह भी हो सकता है कि परिपाटी को लेकर विवाद चलने पर उसे कानूनी नियम का रूप दे देने से विवाद खत्म किया जा सकता है। अथवा यह भी सम्भव है कि परिपाटी के रास्ते में कानून से रुकावट पड़ती हो और उसे कार्यान्वित करने के लिए कानून को बदलना जरूरी हो जाय। क्योंकि एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि यद्यपि परिपाटी के कारण कानूनी अधिकारों का उपयोग निरर्थक हो सकता है, उनका हस्तान्तरण हो सकता है अथवा उनमें पूर्त्ति हो सकती है, किन्तु उसके द्वारा न तो उन्हें मिटाया जा सकता है न उनमें संशोधन किया जा सकता है। शरीर का अंग पंगु भले ही हो जाय पर उसे काटकर निकालने के लिए स्वयं कानून का सहारा लेने के सिवाय कोई और रास्ता नहीं है।

इस प्रक्रिया का एक दिलचस्प उदाहरण संयुक्त राज्य में मिलता है। वहाँ राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद संविधान में वह संशोधन करने का प्रयत्न किया गया कि किसी राष्ट्रपति का पूरी तीसरी अवधि के लिए पुनर्निर्वाचन के लिए खड़े होना गैरकानूनी माना जाय। यह प्रयत्न जनवरी १९४७ में शुरू हुआ और संविधान के बाइसवें संशोधन के रूप में फरवरी १९५१ में स्वीकृत हो पाया। यह स्पष्ट ही अनुभव किया जाता था कि पुनर्निर्वाचन-सम्बन्धी नियम के उपयोग के मामले में कुछ सन्देह की गुंजाइश है, इसलिए संविधान के कानूनी अनुशासन का उपयोग करना ठीक है ताकि कोई परिपाटी उसका उल्लंघन न कर सके। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों के मन्त्रियों तथा राजा के प्रतिनिधि के बीच सम्बन्धों का नियन्त्रण करनेवाले कुछ नियमों को संविधान में निर्दिष्ट कर दिया जाय अथवा जो अधिकार परिपाटी के कारण निरर्थक हो गये हैं उनको संविधान से निकाल दिया जाय।

परिपाटी कभी-कभी अदालतों की मान्यता के फलस्वरूप भी कानून का रूप धारण करती है। देश के साधारण कानून के मामले में तो यह अदालतों के अधिकार के भीतर ही होता है कि वे कुछ परिस्थितियों में रीतिरिवाजों को कानून के

ही अंग के रूप में मान्यता दें। यही बात संवैधानिक कानून के बारे में भी सम्भव है। किसी परिपाटी को ऐसी मान्यता मिलने से वह कानून का ही एक अंग हो जाती है ; फिर वह परिपाटी नहीं रहती। किन्तु ऐसी मान्यता बहुत ही कम प्राप्त होती है और स्पष्ट ही उसमें कुछ खतरा भी है ही। अदालत किस कसौटी से यह निर्णय कर सकती है कि अमुक परिपाटी मान्यता देने के योग्य है? परिपाटी की शर्त्तें अथवा उसकी प्राचीनता अथवा उसके अधिकार को निर्धारित करने के लिए वह कौन से प्रमाण इकट्ठे कर सकती है?

अन्त में यह प्रश्न भी उपयोगी है कि जो देश किसी संविधान के अनुसार अपना शासन चलाते हैं उनमें चलन और परिपाटी के उपयोग में कोई सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। किन्तु एक विशेषता अवश्य ऐसी है जो परिपाटी के उपयोग के बहुत से उदाहरणों में पायी जाती है। डाइसी ने भी अपनी **लॉ ऑफ़ दि कॉंस्टीट्यूशन** नामक पुस्तक में इसका जिक्र किया है। ब्रिटिश शासन-प्रणाली की परिपाटियों के बारे में उसने कहा था कि उनका 'अभिप्राय है राज्य के सच्चे राजनीतिक स्वामी के रूप में मतदाताओं की चरम सर्वोपरिता की स्थापना।' परिपाटियों के प्रभाव का यह वर्णन ब्रिटेन के अलावा बहुत से अन्य देशों के बारे में भी सही है। राज्य के प्रधान का निषेधाधिकार निरर्थक होने में, अथवा संयुक्त राज्य के निर्वाचक-गणों का राष्ट्रपति के निर्वाचन में कोई हाथ न रहने में हम ऐसे नियमों का विकास देख सकते हैं जिनका उद्देश्य यही है कि जनता की इच्छा पूरी होने के मार्ग से सब रुकावटें दूर की जा सकें। यही बात एक और तरह से भी प्रगट होती है। इसका क्या कारण है कि परिपाटी ने यूरोपीय देशों अथवा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में तो राजा के निषेधाधिकार को निरर्थक कर दिया है, पर संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति का निषेधाधिकार वैसा ही मौजूद है? इसका यही उत्तर हो सकता है कि राष्ट्रपति को जनता चुनती है और जनता की इच्छा को प्रगट करने का अधिकार उसका भी उतना ही माना जायगा जितना कॉंग्रेस का। यदि अमरीकी राष्ट्रपति संविधान के कानून के अनुसार ही व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन से निर्वाचक-गणों द्वारा चुना जाया करता, तो यह बहुत ही सम्भव है कि उसका निषेधाधिकार परिपाटी द्वारा यदि निरर्थक न होता तो बहुत कुछ सीमित अवश्य हो जाता। निस्सन्देह राष्ट्रपति के

निषेधाधिकार के अस्तित्व के, बल्कि उसके व्यापकतर उपयोग के, कारण इससे कहीं अधिक जटिल हैं, किन्तु उसका जनता द्वारा निर्वाचन भी एक कारण है यह निश्चित है।

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि चलन और परिपाटी से इससे कहीं बड़े क्षेत्र का नियन्त्रण होता है। उनसे स्विट्ज़रलैण्ड अथवा कनाडा की भाँति अल्पसंख्यकों के अधिकारों का रक्षण होता है ; उनसे विधानमण्डल की दोनों सभाओं के सम्बन्ध निर्धारित होते हैं ; उनसे विधानमण्डल का आन्तरिक संगठन शासित होता है और इस भाँति कार्यकारिणी की स्थिति और विधानमण्डल के साथ उसके सम्बन्ध पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ सकता है ; उनसे पार्टी की शक्ति का सरकार की कानूनी संस्थाओं के साथ सम्पर्क जुड़ता है और इस कारण उसके स्वरूप और शक्ति-सन्तुलन के पूर्णतः बदल जाने की सम्भावना रहती है। जिस समय नियमित संशोधन के उपाय का सहारा लेना अपरिपक्व, असामयिक, बल्कि विपत्तिजनक हो उस समय चलन और परिपाटी के द्वारा नम्यता और परिवर्त्तन लाना सुगम हो जाता है ; उनके द्वारा ऐसे-ऐसे परिवर्त्तन हो जाते हैं जिन्हें कानून ग्रहण ही नहीं कर सकता। तो भी यह बात स्मरण रखना जरूरी है कि उनकी भी सीमाएँ हैं। उनसे भी सब कुछ नहीं कराया जा सकता। उनकी सहायता से कठिनाइयों को टाला जा सकता है और उनके प्रभाव को हल्का किया जा सकता है पर उन्हें सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता। यह काम तो अन्ततः नियमित संशोधन अथवा न्यायविषयक व्याख्या का ही है।

---

# ९ : संवैधानिक शासन का भविष्य

संवैधानिक शासन का अर्थ किसी संविधान के नियमों के अनुसार शासन चलाने से कुछ अधिक है। उसका अर्थ है निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन; उसका अर्थ है, केवल अधिकार का उपयोग करनेवालों की इच्छा और क्षमता के अनुसार चलनेवाला शासन नहीं, बल्कि संविधान के नियमों के अनुसार चलनेवाला शासन। इसलिए ऐसा होना सम्भव है कि किसी देश का शासन संविधान के नियमों के अनुकूल तो चलता हो, पर वह संविधान ही ऐसा हो कि उससे केवल शासन की संस्थाएँ स्थापित भर होती हों और उन संस्थाओं को अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता हो। ऐसे शासन को किसी प्रकार भी संवैधानिक शासन कहना कठिन है। संविधानों की वास्तविक सार्थकता और उनके पीछे का मौलिक उद्देश्य यही है कि शासन की सीमाएँ बाँधी जा सकें और शासन चलानेवालों के ऊपर कानूनों और नियमों को मानने का बन्धन रहे। जैसा हम देख चुके हैं, अधिकांश संविधान शासन को सीमित ही करते हैं। किन्तु यह निष्कर्ष निकालने के पहले, कि शासन को सीमित करनेवाले संविधान जिन देशों में हैं उनमें शासन संवैधानिक ही है, यह देख लेना बहुत जरूरी है कि संविधान का व्यावहारिक रूप कैसा है, और विशेषकर चलन तथा परिपाटी से संवैधानिक सीमाएँ दृढ़ होती हैं अथवा शिथिल। इसी प्रकार यह निष्कर्ष निकालना भी ठीक नहीं कि जिस देश में संविधान शासन पर कोई बन्धन लगाता नहीं जान पड़ता उसमें केवल इसी कारण से कोई संवैधानिक शासन नहीं

हो सकता। यह बहुत सम्भव है कि आगे अध्ययन करने पर पता चले कि देश का कानून और चलन तथा परिपाटी आदि को मिलाकर वे सब बन्धन उत्पन्न हो गये हैं जो संविधान के कानून में मौजूद नहीं थे।

क्या हमारे पिछले अध्यायों के विवेचन के फलस्वरूप इस अर्थ में संवैधानिक शासन के भविष्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव है? कोई भविष्य-वाणी करना तो मूर्खता होगी, किन्तु यह शायद बहुत कुछ निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है कि कौन-सी शक्तियाँ संवैधानिक शासन के विरुद्ध हैं, और उसे कम-जोर तथा नष्ट करनेवाली हैं। यह पाठक के ऊपर है कि वह चाहे तो इन शक्तियों की प्रबलता के बारे में अनुमान लगा ले।

संवैधानिक शासन की सबसे पहली विरोधी शक्ति युद्ध है। युद्ध अथवा युद्ध की अफवाहों के समय हर सरकार अपने कार्यों के लिए पूरी-पूरी आजादी की माँग करती है; वह किसी बन्धन को नहीं मानना चाहती। जनता भी उसे यह आजादी देने के लिए तैयार होती है। पर स्पष्ट ही ऐसा शासन उस बन्धन-युक्त शासन के विरुद्ध है जिसे हम संवैधानिक कहते हैं। युद्धकाल में संवैधानिक शासन के शिथिल होने की सीमा सदा एक-सी नहीं होती। यह मानना आवश्यक नहीं है कि युद्ध के कारण हर बार तथा हर जगह संवैधानिक शासन नष्ट ही हो जाता है। तो भी इतना तो निश्चय ही है कि युद्ध से उस पर दबाव पड़ता है और किसी-न-किसी हद तक वह उसे शिथिल भी कर देता है। स्वयं संविधानों में भी इसे युद्ध का अनिवार्य परिणाम माना जाता है क्योंकि अधिकांश संविधानों में ऐसे निर्देश मौजूद हैं जिनसे युद्ध के समय अथवा जनसुरक्षा के हित में सरकार को स्वतन्त्रता मिल जाती है। आयरलैण्ड के संविधान में धारा २८ (३) के निम्न शब्दों का भाव बहुत से संविधानों में पाया जाता है: "इस संविधान का कोई अंश ऐसे कार्य के लिए उपयोग में न लाया जायगा जिससे जनसुरक्षा के लिए और युद्ध के समय अथवा सशस्त्र विद्रोह के समय राज्य की रक्षा के उद्देश्य से बनाये गये विधान-मण्डल के कानूनों को अवैध ठहराया जा सके...।" सरल भाषा में इसका अर्थ यही है कि युद्ध के समय संविधान और उसके साथ-साथ संवैधानिक सरकार को स्थगित किया जा सकता है।

युद्ध तो उस संकट अथवा विपत्ति की स्थिति का केवल एक उदाहरण है—

चाहे चरम उदाहरण ही सही—जिसके कारण संवैधानिक शासन को स्थगित किया जाता है तथा ऐसा करना उचित ठहराया जाता है। आर्थिक कष्ट अथवा कठिनाइयाँ, अकाल, महामारी, दैवी प्रकोप आदि सभी में किसी-न-किसी हद तक सरकार के स्वाधीन कार्य की अपेक्षा रहती है। उनसे सरकार के ऊपर लगे हुए साधारण बन्धन ढीले हो जाते हैं ताकि वह शीघ्रतापूर्वक उपयोगी कार्रवाई कर सके। संकटकालीन सरकार कभी भी संवैधानिक सरकार नहीं हो सकती। शान्ति और समृद्धि का सचमुच ही संवैधानिक शासन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका भविष्य ही संवैधानिक शासन का भविष्य है।

यदि संवैधानिक शासन बन्धनयुक्त शासन है तो यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार का निरंकुश शासन उसका अवश्य शत्रु होगा। जो लोग और जो संगठित आन्दोलन सर्वशक्तिमान् सरकार स्थापित करना चाहते हैं वे स्पष्ट ही संवैधानिक शासन के विरोधी होते हैं। निरंकुशवाद बहुत से रूपों और नामों में प्रगट होता है—उसे चाहे सर्वाधिकारवादी कहा जाय, चाहे मजदूरवर्ग का अधिनायकत्व, फासिज्म या नात्सीवाद, और चाहे उसे किसी संविधान में ही प्रतिष्ठित कर लिया जाय, पर संवैधानिक शासन से उसका मेल नहीं हो सकता क्योंकि वह बन्धनहीन और सर्वोपरि होने का दावा करता है। इसलिए संवैधानिक शासन का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि विभिन्न रूपों में निरंकुशवाद की शक्ति कितनी है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे संवैधानिक शासन पीछे हटता जाता है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में संसार की दो-तिहाई आबादी के ऊपर किसी-न-किसी प्रकार का निरंकुश शासन मौजूद है।

तो क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि संवैधानिक शासन के लिए पहले जनवाद का होना जरूरी है? यदि जनवाद का अर्थ सब के मत देने के अधिकार अथवा परिस्थितियों की समानता से अधिक कुछ नहीं है, तो इससे तनिक भी यह अर्थ नहीं निकलता कि उससे संवैधानिक शासन की स्थापना हो जायगी। सार्वजनिक मताधिकार से बहुसंख्यकों के, अल्पसंख्यकों के अथवा केवल एक ही व्यक्ति के अत्याचार की भी स्थापना हो सकती है और उसे समर्थन मिल सकता है। द तोक्वेविले ने अपनी **डिमॉक्रेसी इन अमेरिका** नामक पुस्तक में कहा है: "निरंकुश तथा एकाधिकारी शासन की स्थापना दूसरों की अपेक्षा उन लोगों में सब से अधिक आसान है

जिनमें समाज की परिस्थितियाँ समान होती हैं ।" बीसवीं शताब्दी के निरंकुश शासन सार्वजनिक मताधिकार के ऊपर ही प्रायः आधारित रहे हैं—और वह भी अनिवार्य सार्वजनिक मताधिकार पर। क्या आधुनिक अत्याचारी शासन ९० प्रतिशत से भी अधिक बहुमत द्वारा नहीं स्थापित हुए हैं ?

यदि जनवाद का अर्थ समानता के साथ-साथ स्वाधीनता भी हो तभी इस बात की निश्चित रूप से आशा की जा सकती है कि उससे संवैधानिक शासन की स्थापना होगी। यदि लोगों को न केवल मत देने की बल्कि मौजूदा सरकार से भिन्न सरकार को मत देने की आजादी हो और यदि स्वयं राज्य के विरुद्ध भी उनके अधिकारों का संरक्षण मौजूद हो, तभी यह सम्भावना है कि बन्धनयुक्त शासन का अस्तित्व रह सके। जनवाद में लोग प्रायः स्वाधीनता की अपेक्षा समानता को अधिक प्यार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर समानता प्राप्त करने के लिए स्वाधीनता को छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। पर जनवादी सरकार को यदि संवैधानिक सरकार भी बनना है तो उसे स्वाधीनता की रक्षा करनी चाहिये। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों में जनतन्त्र का अर्थ स्वाधीनता भी माना जाता है और वहाँ यदि चुनने का अवसर आ जाय तो स्वाधीनता को समानता से पहले स्थान दिया जाता है। इन देशों में जनवादी सरकार और संवैधानिक सरकार लगभग एक ही चीज समझी जाती हैं।

किन्तु इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि एक ओर जहाँ जनवादी सरकार, जैसा एंग्लोसैक्सन देशों में समझा जाता है, संवैधानिक सरकार भी हो सकती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें सरकार संवैधानिक तो है पर जनवादी नहीं। अभिजाततन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र ऐसे ही संवैधानिक शासन के उदाहरण हैं। किसी एक वर्ग द्वारा नियन्त्रित सरकार चाहे उसी वर्ग के हित के लिए कार्य करे पर वह बन्धनयुक्त सरकार तो हो ही सकती है। अभिजाततन्त्रीय सरकारों में प्रायः शिथिल शासन को अच्छा माना जाता है। संयुक्त राज्य का संविधान एक कुलीनतन्त्रीय समाज की उपज था और उसके द्वारा स्थापित सरकार पर केवल वे ही बन्धन लगाये गये थे जो शासन करनेवाले अल्पसंख्यकों को पसन्द थे। उस संविधान के निर्माताओं को जनतन्त्र भीड़ का राज्य अथवा बहुमत का अत्याचार जान पड़ता था जिससे सरकार के ऊपर से सब बन्धनों के हट जाने की आशंका

थी। इसलिए संवैधानिक सरकार और जनवादी सरकार एक ही चीज नहीं हैं, चाहे जनवादी सरकार को केवल सार्वजनिक मताधिकार के उपयोग से अधिक कुछ न माना जाय, चाहे बन्धनयुक्त स्वाधीन सरकार माना जाय।

किन्तु जो लोग आधुनिक युग में संवैधानिक शासन को श्रेयस्कर समझते हैं उनके सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि किस प्रकार इस बात का पक्का प्रबन्ध किया जाय कि जनवादी सरकार संवैधानिक सरकार भी हो। फिर से अभिजाततन्त्रीय संवैधानिक सरकार बनाने का प्रयत्न अब बेकार है। द तोक्वेविले ने कहा है : "मुझे पक्का यकीन है कि हमारे इस युग में जो भी अभिजातवर्गीय विशेषाधिकारों के आधार पर स्वाधीनता स्थापित करने का प्रयत्न करेगा वह अवश्य असफल होगा। ...प्रश्न यह नहीं है कि अभिजाततन्त्रीय समाज का पुनर्निर्माण किस तरह से किया जाय, बल्कि यह कि परमात्मा ने जिस जनतन्त्रीय समाज में हमें जन्म दिया है उसमें स्वाधीनता को कैसे स्थापित किया जाय।"

शायद आधुनिक युग में संवैधानिक शासन के सामने सबसे कठिन समस्या यही है कि किस प्रकार अपने शत्रुओं से रक्षा करके जीवित रहा जाय। जब भी युद्ध अथवा कोई अन्य संकट उपस्थित होता है तो संवैधानिक शासन को इसलिए सीमित अथवा स्थगित कर दिया जाता है कि देश स्वाधीनतापूर्वक जीवित रह सके और संकट टल जाने पर फिर से संवैधानिक शासन स्थापित हो सके। संवैधानिक शासन का इस प्रकार स्थगित किया जाना इसी आधार पर उचित ठहराया जाता है कि यदि उसे भविष्य में फिर जीवित रहना है तो मौजूदा समय में उसका स्थगित रहना आवश्यक है। सिद्धान्ततः इसमें कोई बुराई नहीं है। इन्सान इस बात को समझ सकता है कि कल स्वाधीनता का उपभोग करने को जीवित रहने के लिए आज किसी सर्वोपरि शक्ति की अधीनता स्वीकार कर लेना आवश्यक हो सकता है। पर व्यवहार में डर इस बात का है कि जिन लोगों को यह सर्वोपरि अधिकार सौंपा जाय वे बाद में उसे छोड़ने में आनाकानी न करने लगें। अस्थायी अधिनायकत्व के स्थायी और सुस्थापित अत्याचारपूर्ण व्यवस्था बन जाने की सम्भावना सदा बनी रहती है। शासकों को संवैधानिक शासन के संरक्षण सौंपने के साथ-साथ उन्हें वापस लौटा लेने के साधन भी हाथ से चले जाते हैं।

किन्तु इससे भी बड़ी समस्या एक और है। जो लोग संवैधानिक शासन को

उलटना चाहते हैं वे उसके विरुद्ध अपना आन्दोलन चलाने के लिए उसी की दी हुई सुविधाओं और आजादी का उपयोग करते हैं। तो क्या यह संवैधानिक शासन के अनुकूल है कि जो उसके विरुद्ध कार्य करते हैं उनका दमन किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर के बारे में लोगों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि संवैधानिक शासन का अर्थ है सरकार के स्वरूप की आलोचना करने और उसके विरुद्ध संगठन करने की स्वाधीनता। इस अधिकार से उन लोगों को भी वंचित करना जो खुल्लमखुल्ला संवैधानिक शासन का अन्त करना चाहते हैं, स्वयं संवैधानिक शासन को स्थगित करने अथवा उसपर बन्धन लगाने के बराबर है। किन्तु इस युक्ति के सिद्धान्ततः ठीक होने में सन्देह है। निश्चय ही यह संवैधानिक शासन के अनुकूल नहीं हो सकता कि जो उसके विरोधी हैं उनको भी वह सहन करे अथवा प्रोत्साहित करे। यह बहुत सम्भव है कि कुछ परिस्थितियों में संवैधानिक सरकार के विरोधियों को परास्त करने का अथवा उनकी कार्रवाइयों को सीमित करने का सबसे अच्छा उपाय यही हो कि उन्हें अपने विरोध को प्रगट करने की पूरी छूट दी जाय। यह व्यावहारिक राजनीति की बात है और उसमें ऐसे सवाल शामिल हैं जिनके लिए बहुत ही सूक्ष्म निर्णय और बहुत दूरदर्शिता के साथ काम करने की आवश्यकता होती है। तो भी यह हमेशा मानना पड़ेगा कि संवैधानिक सरकार के समर्थकों के सामने उद्देश्य अपने विरोधियों को परास्त करना ही रहेगा और यह सम्भव है कि यदि संवैधानिक शासन की रक्षा करनी है तो विरोधियों की स्वाधीनता का अपहरण जरूरी हो जाय।

व्यवहार में इस सिद्धान्त के उपयोग से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों का उदाहरण संवैधानिक शासनवाले देशों में कम्युनिस्टों के दमन के प्रयत्नों में मिलता है। सिद्धान्ततः संवैधानिक शासन और कम्युनिस्टों के दमन में कोई असंगति नहीं है। कम्युनिस्ट संवैधानिक शासन में विश्वास नहीं करते और न वे उसके प्रति अपनी अवहेलना को छिपाते ही हैं। पर तो भी उन्हें गिरफ्तार करने के लिए अथवा प्रभावशाली पदों से हटाने के लिए अथवा उन्हें निष्फल बनाने के लिए सरकार को बड़े भारी व्यापक अधिकार सौंपने की जरूरत पड़ जाती है और इन अधिकारों का शीघ्रतापूर्वक और गुप्त रूप से उपयोग आवश्यक होता है। एक गुप्त आन्दोलन का विरोध अन्य गुप्त आन्दोलन द्वारा ही किया जा सकता है। पर इस

तरह के अधिकारों का दुरुपयोग बड़ी आसानी से हो सकता है। नागरिकों को अपने शत्रुओं और प्रतिद्वन्द्वियों के निराधार आरोपों के कारण विपत्ति का सामना करना पड़ जाता है; झूठ बोलने और एक दूसरे के विरुद्ध शिकायत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन ही नहीं, पुरस्कार मिलने लगता है; न्यायपूर्ण विचार का संरक्षण स्थगित हो जाता है। ये सब चीजें संवैधानिक सरकार के विपरीत हैं, पर ज्यों ही ऐसी सरकार अपने शत्रुओं से रक्षा के लिए प्रयत्न करने लगती है त्यों ही ये सब बातें पैदा होने लगती हैं। और जिन देशों में ये शत्रु जितने अधिक प्रबल होते हैं उन देशों में ये बुराइयाँ उतनी ही अधिक पनपने लगती हैं।

आधुनिक युग में संवैधानिक शासन के सामने सबसे टेढ़ा प्रश्न यही है। उसे अब्राहम लिंकन के शब्दों में भली भाँति रखा जा सकता है। उन्होंने ४ जुलाई १८६१ को गृहयुद्ध छिड़ने के बाद संयुक्त राज्य की काँग्रेस को अपने पहले सन्देश में कहा था: "मानवजाति के आगे आज यह प्रश्न उपस्थित है कि संवैधानिक प्रजातन्त्र अथवा जनतन्त्र—जनता की सरकार स्वयं उसी जनता के द्वारा—अपने घरेलू शत्रुओं से अपनी प्रादेशिक समग्रता की रक्षा करने में समर्थ है अथवा नहीं है। आज यह प्रश्न उपस्थित है कि क्या मुट्ठी भर असन्तुष्ट व्यक्ति, जो संख्या में इतने कम हैं कि कानून के अनुसार प्रशासन को अपने हाथ में ले लेने में असमर्थ हैं, मौजूदा मामले में बनाये हुए बहाने से अथवा किसी अन्य बहाने से अथवा बिना कोई बहाना बनाये, निरंकुशतापूर्वक सदा अपनी सरकार को भंग करके दुनिया से स्वाधीन सरकार का नाम मिटाने में सफल होंगे अथवा नहीं। यह परिस्थिति हमें यह प्रश्न करने को बाध्य करती है कि 'क्या तमाम प्रजातन्त्रों में यह घातक कमजोरी मौजूद ही होती है? क्या यह प्रत्येक सरकार के लिए अनिवार्य है कि या तो वह इतनी शक्तिशाली हो कि अपनी जनता की स्वाधीनता को कुचल दे अथवा इतनी कमजोर हो कि अपना अस्तित्व भी न बनाये रख सके?'"

---

# अनुक्रमणिका